अन्तर्जगत की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान

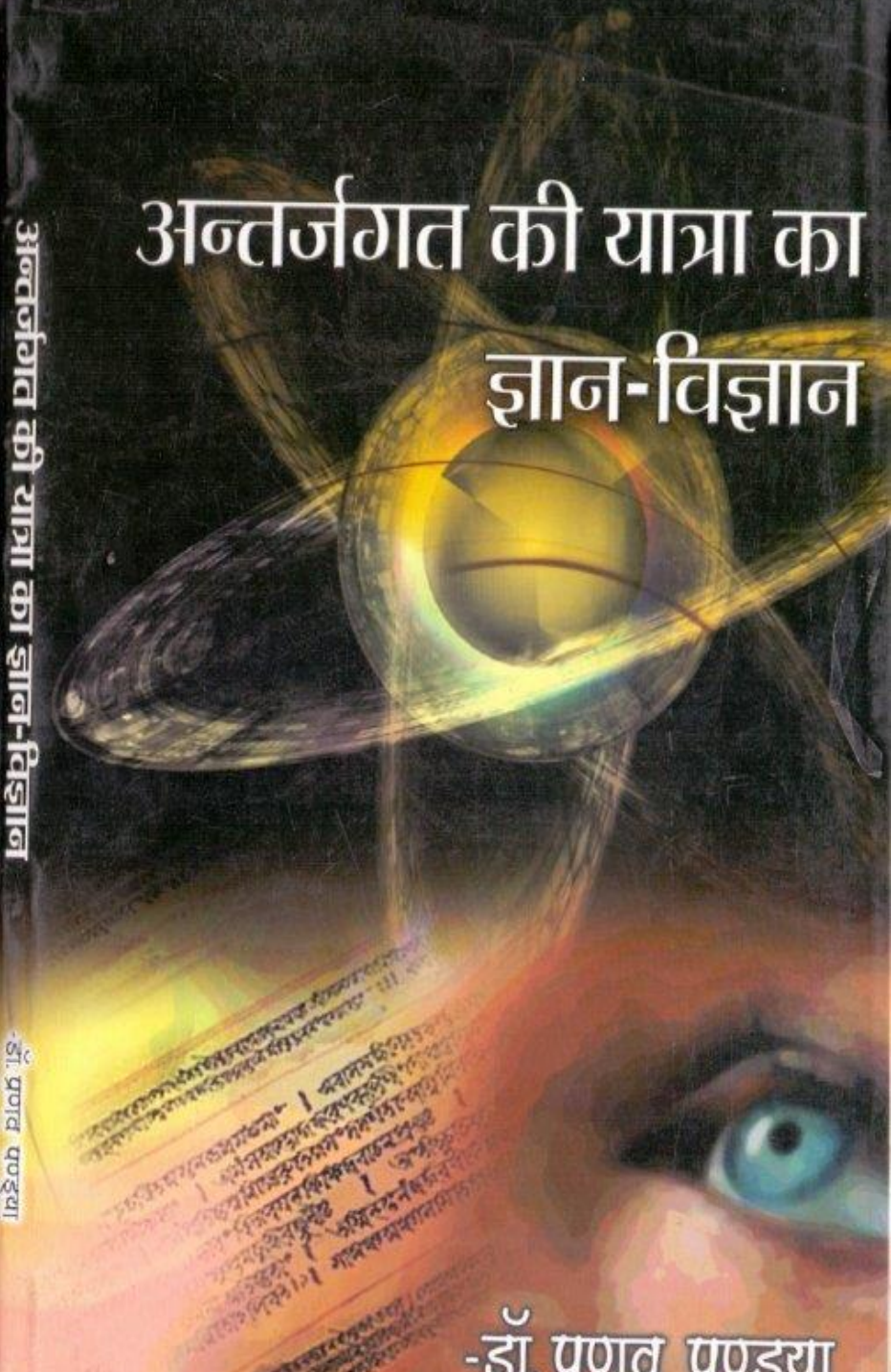

-डॉ. प्रणव पण्ड्या

अन्तर्जगत की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान
-डॉ. प्रणव पण्ड्या

अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान

(पातञ्जल योग दर्शन की सरल हिन्दी भावार्थ दीपिका)

भाग-1

समाधि-पाद

टीका एवं संपादन

डॉ० प्रणव पण्ड्या

कुलाधिपति,

देवसंस्कृति विश्वविद्यालय

प्रकाशक

श्रीवेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)

गायत्रीनगर, श्रीरामपुरम्-शांतिकुंज, हरिद्वार

उत्तराखण्ड पिन-249411

पुनरावृत्ति सन् 2013 मूल्य- 50.00

अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान

टीका एवं संपादन
डॉ० प्रणव पण्ड्या
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक
श्रीवेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)
गायत्रीनगर, श्रीरामपुरम्-शांतिकुंज, हरिद्वार
उत्तराखण्ड पिन-249411

पुनरावृत्ति सन् 2013

मूल्य- 50/- रुपया
ISBN 81 - 8255 - 016 - 5

विषय सूची

क्र०	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	अपनी बात आपसे	५
२.	प्रवेश से पहले जानें अथ का अर्थ	९
३.	मन मिटे, तो मिल—चित्तवृत्ति योग का सत्य	१७
४.	क्या होगा मंजिल पर?	२३
५.	सावधान! बड़ा बेबस बना सकता है मन	२७
६.	अनूठी हैं—मन की पाँचों वृत्तियाँ	३१
७.	जीवन कमल खिला सकती हैं—पंच वृत्तियाँ	३५
८..	आखिर कैसे मिले सम्यक् ज्ञान	४०
९.	जानें, किस भ्रम में हैं हम	४५
१०.	कल्पना में भी है अक्षय ऊर्जा का भंडार	४९
११.	नींद, जब आप होते हैं केवल आप	५२
१२.	जो यादों का धुंधलका साफ हो जाए	५६
१३.	कहीं पाँव रोक न लें सिद्धियाँ	६०
१४.	रस्सी की तरह घिस दें—चुनौतियों के पत्थर	६४
१५.	बिन श्रद्धा-विश्वास के नहीं सधेगा अभ्यास	६७
१६.	वैराग्य ही देगा साधना में संवेग	७१
१७.	प्रभु प्रेम से मिलेगा—वैराग्य का चरम	७४
१८.	जब वैराग्य से धुल जाए मन	७८
१९.	जिससे निर्बीज हो जाएं—सारे कर्म संस्कार	८१
२०.	विदेह एवं प्रकृतिलय पाते हैं—अद्भुत अनुदान	८४
२१.	इस जन्म में भी प्राप्य है—असम्प्रज्ञात समाधि	८७
२२.	तीव्र प्रयासों से मिलेगी, समाधि में सफलता	९०
२३.	चाहत नहीं, तड़प जगे	९३
२४.	समर्पण से सहज ही मिल सकती है—सिद्धि	९६

२५. ऐसा है—वह घट-घट वासी ---------- ९९
२६. बाँसुरी बनें तो गूँजे प्रभु का स्वर ---------- १०२
२७. गुरुओं के गुरु हैं, प्रभु ---------- १०५
२८. ॐकार को जाना, तो प्रभु को पहचाना ---------- १०८
२९. यदि जान सकें—जप की कला ---------- १११
३०. आत्मसाक्षात्कार का साधन—जप ---------- ११४
३१. मंत्र में छिपी है, विघ्न विनाशक शक्ति ---------- ११७
३२. बहुत बड़ी है, आततायी विघ्नों की फौज ---------- १२३
३३. एक से ही हों एकाकार ---------- १२७
३४. करुणा कर सकती है—चंचल मन पर काबू ---------- १३०
३५. बड़ा गहरा है प्राण व मन का नाता ---------- १३४
३६. ध्यान से उपजती है—अतीन्द्रिय संवेदना ---------- १३८
३७. ध्यान की गहराई में छिपा है—परम सत्य ---------- १४२
३८. राग शमन करता है—वीतराग का ध्यान ---------- १४६
३९. अन्तर्चक्षु खोल देगा निद्रा का मर्म ---------- १५०
४०. अभिरुचि के ही अनुरूप हो ध्यान ---------- १५४
४१.अतिचेतन तक को वश में कर लेता है ध्यान ---------- १५८
४२. स्फटिक मणि सा बनाइये मन ---------- १६२
४३. मंजिल नहीं, पड़ाव है—सवितर्क समाधि ---------- १६६
४४. सत्य का साक्षात्कार है निर्वितर्क समाधि ---------- १७०
४५. ध्यान की अनुभूतियों द्वारा ऊर्जा स्नान ---------- १७३
४६. ध्यान का अगला चरण है—समर्पण ---------- १७८
४७. परम शुद्ध को मिलता है, अध्यात्म का प्रसाद ---------- १८१
४८. निर्मल मन को प्राप्त होती है, ऋतम्भरा प्रज्ञा ---------- १८५
४९. बिन इन्द्रिय जब अनुभूत होता है सत्य ---------- १८९
५०. जब मिलते हैं व्यक्ति और विराट् ---------- १९३
५१. सारे नियंत्रणों पर नियंत्रण है—निर्बीज समाधि ---------- १९७

अपनी बात आपसे.....

परम पूज्य गुरुदेव एवं महर्षि पतंजलि में अद्‌भुत साम्य है। अध्यात्म जगत् में इन दोनों की उपस्थिति अत्यन्त विरल है। ये दोनों ही अध्यात्म के शिखर पुरुष हैं, परन्तु वैज्ञानिक हैं। वे प्रबुद्ध हैं—बुद्ध, कृष्ण, महावीर एवं नानक की भाँति, लेकिन इन सबसे पूरी तरह से अलग एवं मौलिक हैं। बुद्ध, कृष्ण, महावीर एवं नानक-ये सभी महान् धर्म प्रवर्तक हैं, इन्होंने मानव मन और इसकी संरचना को बिल्कुल बदल दिया है, लेकिन उनकी पहुँच, उनका तरीका वैसा सूक्ष्मतम स्तर पर प्रमाणितनहीं है। जैसा कि पतंजलि का है।

जबकि महर्षि पतंजलि एवं वेदमूर्ति गुरुदेव अध्यात्मवेत्ताओं की दुनिया के आइंस्टीन हैं। वे अद्‌भुत घटना हैं। वे बड़ी सरलता से आइंस्टीन, बोर, मैक्स प्लैंक या हाइज़ेनबर्ग की श्रेणी में खड़े हो सकते हैं। उनकी अभिवृत्ति और दृष्टि ठीक वही है, जो एकदम विशुद्ध वैज्ञानिक मन की होती है। कृष्ण कवि हैं, कवित्व पतंजलि एवं गुरुदेव में भी है। किन्तु इनका कवित्व कृष्ण की भाँति बरबस उमड़ता व बिखरता नहीं, बल्कि वैज्ञानिक प्रयोगों में लीन हो जाता है। पतंजलि एवं गुरुदेव वैसे रहस्यवादी भी नहीं हैं, जैसे कि कबीर हैं। ये दोनों ही बुनियादी तौर पर वैज्ञानिक हैं, जो नियमों की भाषा में सोचते-विचारते हैं। अपने निष्कर्षों को रहस्यमय संकेतों के स्वर में नहीं, वैज्ञानिक सूत्रों के रूप में प्रकट करते हैं।

अद्‌भुत है इन दोनों महापुरुषों का विज्ञान। ये दोनों गहन वैज्ञानिक प्रयोग करते हैं, परन्तु उनकी प्रयोगशाला पदार्थ जगत् में नहीं, अपितु चेतना जगत् में है। वे अन्तर्जगत् के वैज्ञानिक हैं और इस ढंग से वे बहुत ही विरल एवं विलक्षण हैं। क्योंकि जो लोग अन्तर्चेतना में प्रवेश करते हैं, वे प्राय: कवि हो जाते हैं और जो बाह्य जगत् में प्रवेश करते हैं, वे अक्सर हमेशा वैज्ञानिक होते हैं। परन्तु यहाँ यह नियम उलट-पुलट गया है। ये दोनों इस प्रकृति सत्य से परे और पार चले गए हैं।

इस तरह से तपोमूर्ति गुरुदेव एवं महर्षि पतंजलि विधाता के, विश्व उद्यान के अति दुर्लभ पुष्प हैं। उनके पास वैज्ञानिक मस्तिष्क है, लेकिन उनकी यात्रा भीतरी है। उन्होंने अनेकों प्रयोग किए हैं, परन्तु उनके सारे प्रयोग पदार्थ जगत् में नहीं चेतना जगत् में किए गए हैं। उन्होंने मनुष्य के अंतस् जगत् के निरपेक्ष नियमों का निगमन करके सत्य और मानवीय मन की चरम कार्य प्रणाली के विस्तार का अन्वेषण और प्रतिपादन किया है। इनका अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि वे गणित के फार्मूले जैसी सटीक बात कहते हैं। यदि उनकी बात मानी जाए, जैसे वे कहते हैं, वैसा किया जाए, तो परिणाम निकलेगा ही। उनकी बातों में वैसा ही सुनिश्चय है- जैसा कि दो और दो का चार होना सुनिश्चित है।

इसके लिए किसी आस्था की कोई जरूरत नहीं है। बस करो और जानो। प्रयोगों में डूबो और पाओ। यहाँ सब कुछ असंदिग्ध है, सुस्पष्ट है। किसी भी तरह के भ्रम एवं सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। यह कुछ ऐसा है, जिसे करके ही जाना जा सकता है। इसलिए यह बार-बार कहा जा सकता है कि महर्षि पतंजलि एवं परम पूज्य गुरुदेव अद्भुत हैं। महर्षि पतंजलि ने अपने सैकड़ों-सैकड़ों प्रयोग करके उनके निष्कर्षों को सूत्रबद्ध किया। इन सूत्रों के सहारे जब भी कोई चाहे प्रयोग को दुहरा सकता है और उन्हीं निष्कर्षों को पुनः पा सकता है। इसी तरह परम पूज्य गुरुदेव ने चेतना जगत् में असंख्य प्रयोग किए और अपने निष्कर्षों को प्रकाशित-प्रतिपादित किया। वे यहीं तक रुके नहीं, बल्कि इससे एक कदम और आगे जाकर ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान का निर्माण किया। अध्यात्म के वैज्ञानिक प्रयोगों के लिए एक अद्भुत प्रयोगशाला बनायी। मानव चेतना के वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए क्रियाविधि निर्देशित की।

इस दृष्टि से ये दोनों ही बेजोड़ हैं। उन जैसा होने की सम्भावना भी नहीं है। क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना और आन्तरिक जगत् में प्रवेश करना करीब-करीब असम्भव सम्भावना है। वे अपने प्रयोगों के बारे में, प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्ष के बारे में एक गणितज्ञ, एक तर्कशास्त्रज्ञ, एक महावैज्ञानिक की भाँति सत्यों को स्पष्ट करते हैं। लेकिन वे हैं—कबीर

और हेराक्लाइट्स की भाँति रहस्यदर्शी। किसी रहस्यदर्शी का वैज्ञानिक होना अति विरल है। रहस्यदर्शी तो कवि होता है, कबीर की तरह, नानक की तरह। दरअसल परम आनन्द का, चरम ज्ञान का जो जगत् है, वह इतना सुन्दर-इतना भव्य है कि बरबस ही कविता उपजती है। उस अवस्था की सुन्दरता ऐसी है, उसका मंगल आशीष ऐसा है, उसका परम आनन्द ऐसा है कि सहज ही चेतना लयबद्ध हो जाती है। अपने आप ही छन्द बनते और काव्य प्रस्फुटित होता है।

लेकिन महर्षि पतंजलि एवं परम पूज्य गुरुदेव अध्यात्म चेतना के इस शिखर पर पहुँच कर भी इसके सम्मोहन से बँधते नहीं। इसके सौन्दर्य के जादू को स्वयं पर हावी नहीं होने देते। हालाँकि यह बहुत कठिन है। ऐसी अवस्था में आज तक कोई भी स्वयं को रोक नहीं सका। बुद्ध, दादू, रज्जब सबके सब काव्यमय हो गए। यह अवस्था ही कुछ ऐसी ही है। जब उसकी अपार भव्यता और उसका परम सौन्दर्य अपनी अन्तर्चेतना में फूटता है, तो बरबस अपना समूचा अस्तित्त्व नाच उठता है। यह अवस्था उस प्रेमी की होती है, जो सारी सृष्टि के ही प्रेम में पड़ गया है। परन्तु पतंजलि एवं गुरुदेव दोनों ही ऐसी अवस्था पाने के बावजूद काव्य का प्रयोग नहीं करते। वे सौन्दर्य की नहीं सूत्रों की भाषा में बात करते हैं। वे ऐसा कुछ भी कहने का प्रयास नहीं करते, जिसे शब्दों में कहा न जा सके। उनमें लोक कल्याण की गहरी भावना है, मानव के प्रति अगाध प्रेम है। पर इसे वे काव्य में नहीं, क्रिया में व्यक्त करते हैं।

वे साधना की, अनुशासन की नींव बनाते हैं। यह नींव सबके लिए है। यदि कोई उस नींव पर चल पड़े, तो उस शिखर पर निश्चित रूप से पहुँच जाएगा, जो अभी दिखता नहीं, सबसे परे है। उनके द्वारा कहा गया एक भी शब्द व्यर्थ नहीं है। अपनी अन्तर्यात्रा पर चलने के लिए उनके एक-एक शब्द को समझने की कोशिश करनी होगी। यह अति कठिन है, क्योंकि उनकी शब्दावली तर्क की, विवेचन की है। हालाँकि उनका संकेत प्रेम की ओर, मस्ती की ओर, परमात्मा की ओर है। उनकी शब्दावली उस व्यक्ति की है, जो वैज्ञानिक प्रयोगों में संलग्न है। हालाँकि उनकी प्रयोगशाला अन्तर्चेतना की है, आन्तरिक अस्तित्त्व की है।

अत: उनके सूत्रों-निष्कर्षों में इस अनुभूति के साथ निमग्न होना होगा कि यह परम काव्य का गणित है। यह विरोधाभास तो है, पर यह सूत्रों को तनिक भी नहीं छू सका है। क्योंकि ये महावैज्ञानिक अपने कथन में बड़ी ही तर्क संगत पृष्ठभूमि बनाए रखते हैं। वे विच्छेदन करते हैं, विश्लेषण करते हैं, पर उनका मकसद संश्लेषण है। वे केवल संश्लेषण के लिए विश्लेषण करते हैं। उनकी अनुभूति में डूबने के लिए यह हमेशा ध्यान रखना होगा कि वे हमें वैज्ञानिक मार्ग से परम सत्य तक पहुँचाना चाहते हैं। वे बुद्धि से बातें करते हैं, पर उनका उद्देश्य, उनका लक्ष्य हृदय ही है। वे हमें तर्क के द्वारा तर्क के पार ले जाना चाहते हैं।

महर्षि पतंजलि एवं तपोमूर्ति गुरुदेव दोनों ही हमें धीरे-धीरे, कदम-दर-कदम बड़े ही धीरज के साथ, हमारी उँगली पकड़ कर चेतना के शिखरों की ओर ले जाते हैं। वे प्रत्येक कदम की महिमा समझाते हैं, उसकी फलश्रुति बतलाते हैं। ऐसा करने में जो बाधाएँ आएगी, उनसे सचेत करते हैं, उनके निराकरण के उपाय सुझाते हैं। वे हमें अपने अनुशासन में बाँधते हैं, पर उनका अनुशासन माँ के मातृत्व की तरह बड़ा प्यारा और मधुर है।

इन पंक्तियों के पाठकों से एक बड़ा ही निजी सवाल है कि क्या आप इस अनुशासन को स्वीकारने के लिए तैयार हैं? यदि जवाब हाँ में है, तो ही महर्षि पतंजलि के सूत्रों-निष्कर्षों की व्याख्या परम पूज्य गुरुदेव के प्रयोगों एवं अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में जानने का वास्तविक लाभ है। अन्तर्जगत् के दिव्य लोक में प्रवेश के इच्छुक यात्रियों से इतनी अपेक्षा तो की ही जा सकती है।

-डॉ० प्रणव पण्ड्या

अन्तर्जगत् की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान

(पातञ्जल योग दर्शन की सरल हिन्दी भावार्थ दीपिका)

समाधिपाद - १

प्रवेश से पहले जानें अथ का अर्थ

योग साधकों के लिए सबसे पहले साधना के प्रवेश द्वार की पहचान जरूरी है। क्योंकि यही वह महत्त्वपूर्ण स्थल है, जहाँ से योग साधना की अन्तर्यात्रा शुरू होती है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में इसी के बारे में गूढ़ संकेत दिए हैं। इस प्रथम सूत्र में उन्होंने योग साधना की पूर्व तैयारियों, साधना में प्रवेश के लिए आवश्यक आवश्यकताओं एवं अनिवार्यताओं का ब्योरा सूत्रबद्ध किया है। समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद एवं कैवल्यपाद तथा १९५ सूत्रों वाले योगदर्शन की आधारशिला यही पहला सूत्र है -

अथ योगानुशासनम्॥ १/१॥

यानि कि अब योग का अनुशासन।

योग सूत्रकार महर्षि के एक-एक शब्द को ठीक से समझना जरूरी है। क्योंकि महावैज्ञानिक पतंजलि एक भी शब्द का निरर्थक प्रयोग नहीं करते। इस सूत्र में पहला शब्द है- अथ। योग सूत्र की ही भाँति अथ शब्द ब्रह्मसूत्र में भी आया है। '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' यही पहला सूत्र है **महर्षि बादरायण व्यास** का। इसमें से अथ शब्द की व्याख्या में आचार्य शंकर एवं आचार्य रामानुज ने सुदीर्घ व्याख्याएँ की हैं। अपनी भारी मतभिन्नता के बावजूद दोनों आचार्य अथ के महत्त्व के बारे में एकमत हैं। जिन्हें सचमुच ही साधना में प्रवेश करना है, उन्हें अच्छी तरह से जान लेना

चाहिए कि अथ को समझकर साधक का जीवन अर्थवान बनता है। बिना अथ को समझे वह पूरी तरह से अर्थहीन रह जाता है।

'अथ'- यानि कि 'अब'। अब साधक के जीवन में वह पुण्य क्षण है, जब उसके हृदय में उठने वाली योग साधना के लिए सच्ची चाहत अपने चरम को छूने लगी। उसकी अभीप्सा की ज्वालाओं का तेज तीव्रतम हो गया। उसकी पात्रता की परिपक्वता हर कसौटी पर खरी साबित हो चुकी। उसका शिष्यत्व पूरी तरह से जाग उठा। उसकी पुकार में वह तीव्रता और त्वरा आ गयी कि सद्गुरु उससे मिलने के लिए विकल-बेचैन हो उठे।

परम पूज्य गुरुदेव के जीवन में 'अथ' का पुण्य क्षण १५ वर्ष की आयु में ही आ गया। वह पात्रता और पवित्रता की हर कसौटी पर पिछले जन्मों से ही खरे थे। श्री रामकृष्ण परमहंस, समर्थ स्वामी रामदास, संत कबीर के रूप में उन्होंने योग साधना के सत्य को पूरी तरह जिया था। अपने जीवन को इसकी अनुभूतियों के रस में डूबोया था। फिर भी उन्हें इस बार भी अपनी पात्रता को सिद्ध करना पड़ा, जो उन्हीं की भाषा में 'पिसे को पीसा जाना था।' उनकी जाग्रत् चेतना की पुकार इतनी तीव्र हो उठी कि उनके सद्गुरु हिमालय के गुह्यक्षेत्र से भागे चले आए।

उन्होंने इस सत्य को बताते हुए अपनी आत्मकथा 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखा 'हमें गुरु के लिए भाग दौड़ नहीं करनी पड़ी। हमारे गुरुदेव तो स्वयं ही हम तक दौड़े चले आए।' यह है महर्षि पतंजलि के योग सूत्र के प्रथम सूत्र के प्रथम शब्द को समझ लेने का चमत्कार। 'अथ' के रहस्य को जान लेने की अनुभूति। इसके प्रयोग को सिद्ध कर लेने का सच। गुरुदेव ने जगह-जगह पर अपने साहित्य में लिखा है, स्थान-स्थान पर अपने प्रवचनों में कहा है कि हमारी मंशा अपने गुरु की जेब काटने की नहीं थी। हम तो उन्हें अपना शिष्यत्व समर्पित करना चाहते थे। हमारे अन्दर तो एक ही ख्वाहिश, एक ही अरमान था, सच्चा शिष्य बनने का। बस, हम तो अपने गुरु के हो जाना चाहते थे। अपनी तो बस एक ही चाहत थी, बस एक ही नाता रहे, एक ही रिश्ता बचे—गुरु और शिष्य का।

जीवन यदि भ्रान्तियों से उबर सका, यदि साधक आशा रहित हो सका, यदि देह के स्थान पर आत्मा की प्यास जग सकी, यदि वह हो सका, जिसे पश्चिम के मेधा सम्पन्न **दार्शनिक कीर्केगार्द** ने तीव्र व्यथा कहा है। यदि सारे सपने विलीन हो चुके हैं, नींद भली प्रकार टूट चुकी है, और यदि ऐसा क्षण आ गया है, तो पतंजलि कहते हैं- अब योग का अनुशासन। केवल अब तुम योग के विज्ञान को, योग के अनुशासन को समझ सकते हो।

यदि ऐसा क्षण नहीं आया, तो किए चले जाओ योगशास्त्रों का अध्ययन, बन जाओ महाविद्यालय, विश्वविद्यालय में प्रोफेसर, लच्छेदार प्रवचन देकर उठाते रहो सुनने वालों की तालियों का आनन्द, लेकिन योगी नहीं बन सकते। योगशास्त्र पर पी-एच.डी. कर सकते हो, करा सकते हो, लेकिन कभी योगी न बनोगे। अथ का पुण्य क्षण अभी तुम्हारे लिए नहीं आया है। क्योंकि यह रुचि बौद्धिक है, साधक के प्राणों से पनपी अभीप्सा के उजाले से कोसों दूर। ध्यान रहे, योग कुछ नहीं है, अगर यह अनुशासन नहीं है। योग कोई शास्त्र नहीं है, योग अनुशासन है। यह कुछ ऐसा है, जिसे तुम्हें करना है। यह कोई जिज्ञासा नहीं है, यह दार्शनिक चिन्तन भी नहीं है। यह इन सबसे कहीं गहरा है। यह तो सवाल है— जीवन और मरण का।

'अथ' का पुण्य क्षण उनके जीवन में भी नहीं आ सकता, जो योग को सत्य नहीं, सिद्धि समझते हैं। जो सोचते हैं कि लौकिक न पा सके, तो अलौकिक पा लो। या फिर लौकिक वैभव तो बटोरा ही, अब अलौकिक भी बटोर लो। ध्यान रहे चमत्कारों की चाहत रखने वाले, चमत्कारी बनने की महत्त्वाकांक्षाओं को सँजोने वाले बाजीगर तो बन सकते हैं, परन्तु अथ का पुण्य पल तो तभी आता है, जब यह अच्छी तरह से महसूस होने लगता है कि सारी दिशाएँ अस्त-व्यस्त हो गयी हैं, सारी राहें खो गयी हैं, भविष्य की कल्पनाएँ, जल्पनाएँ अब नहीं बचीं। इच्छाओं, आशाओं और सपनों की सारी गतियाँ समाप्त हो चुकी हैं- अब योग का

अनुशासन। और यदि 'अब' नहीं आया, तो योग के कितने भी रहस्य लिखे जाएँ, लेकिन वे पढ़कर भी समझे न जा सकेंगे। 'अथ' का एक ही मतलब है- सच्चा शिष्यत्व, खरी पात्रता।

साधक के जीवन में यदि वह 'अथ' आ चुका है, तो उसे योग का अनुशासन बताने वाला सद्गुरु भी मिलेगा। अध्यात्म जगत् का यह वैज्ञानिक सत्य है, सौ फीसदी खरा और परखा हुआ सच है कि जिसमें शिष्यत्व ने जन्म ले लिया है, उसे सद्गुरु मिले बिना नहीं रहेंगे। और शिष्यत्व को अर्जित किए बिना यदि सद्गुरु मिल भी गए, तो भी कोई लाभ होने वाला नहीं है। बंजर भूमि पर डाले गए बीज बेकार चले जाते हैं, कोई समझदार बीजों को बंजर भूमि पर डालता भी नहीं है। साधक की अन्तर्भूमि उर्वर है, अन्तर्चेतना ग्रहणशील एवं उपजाऊ बन चुकी है, तो उसमें योग के बीज बोने वाले सद्गुरु अपने आप ही आ जाते हैं। वह आते हैं, शिष्य को योग का अनुशासन देने के लिए।

अनुशासन का मतलब है, होने की क्षमता, जानने की क्षमता, सीखने की क्षमता। परम पूज्य गुरुदेव की इन तीनों क्षमताओं को परखकर ही उनके हिमालय वासी सद्गुरु ने उन्हें २४ लाख के २४ गायत्री महापुरश्चरणों में प्रवृत्त किया। गुरुदेव के जीवन का पहला सच समझने के लिए हमें इन तीनों क्षमताओं का रहस्य जानना होगा। पतंजलि कहते हैं, यदि तुम अपना शरीर हिलाए बिना मौन रहकर कुछ घण्टे बैठ सकते हो, तब तुम्हारे भीतर होने की क्षमता बढ़ जाती है। अभी तो स्थिति यह है कि एक घण्टे भी बिना हिले-डुले नहीं बैठा जा सकता। अभी तो समूचा अस्तित्त्व एक कंपित ज्वरग्रस्त हलचल भर है। होने का अर्थ है, कुछ किए बिना बस ठहर जाओ, बिना कुछ किए, बिना किसी गति के, बिना किसी हलचल के। यह होना ही जानने की क्षमता विकसित करता है।

पन्द्रह वर्ष की किशोर वय में प्रतिदिन छः घण्टे एक आसन पर बैठकर नियमित गायत्री जप गुरुदेव के इसी 'होने' की क्षमता का परिचायक था। जानने की क्षमता तब आती है, जब मन अगतिमान होता है। साधक

जब केन्द्रस्थ होता है, तभी वह जान सकता है। अभी तो सामान्य मनोदशा एक भीड़ की है। और इसी कारण **गुरजिएफ** ने कहा कि सामान्य व्यक्ति वादा नहीं कर सकता, संकल्प नहीं कर सकता, क्योंकि यह सब तो साधकों के गुण हैं, शिष्यत्व के लक्षण हैं।

गुरजिएफ के पास लोग आते और कहते—अब मैं व्रत लूँगा। उसके शिष्य **औस्पेन्सकी** ने लिखा है कि वह जोर से हँसता और कहता 'इससे पहले कि तुम कोई प्रतिज्ञा लो, दो बार फिर सोच लो। क्या तुम्हें पूरा आश्वासन है कि जिसने वादा किया है, वह अगले क्षण भी बना रहेगा?' तुम कल से सुबह तीन बजे उठने का निर्णय कर लेते हो और तीन बजे तुम्हारे भीतर कोई कहता है, झंझट मत लो। बाहर इतनी सर्दी पड़ रही है। और ऐसी जल्दी भी क्या है? मैं यह कल भी कर सकता हूँ और तुम फिर सो जाते हो। दूसरे दिन सारे पछतावे के बावजूद यही स्थिति फिर से दुहराई जाती है। क्योंकि जिसने प्रतिज्ञा की, वह सुबह तीन बजे वहाँ होता ही नहीं, उसकी जगह कोई दूसरा ही आ बैठता है। अनुशासन का मतलब है, भीड़ की इस अराजक अव्यवस्था को समाप्त कर केन्द्रीयकरण की लयबद्धता उत्पन्न करना और तभी जानने की क्षमता आती है।

संकल्पवान ही आत्मतत्त्व को जान पाते हैं। गुरुदेव का समूचा जीवन इसी संकल्प का पर्याय था। उनके समूचे जीवन में, अन्तर्चेतना में अविराम लयबद्धता थी; तभी उनके गुरु ने उन्हें जो अनुशासन दिया, वह बड़ी प्रसन्नतापूर्वक पालन करते रहे। अनुशासन से मिलता-जुलता अंग्रेजी का शब्द है- डिसिप्लिन। यह डिसिप्लिन शब्द बड़ा सुन्दर है। यह उसी जड़, उसी उद्‌गम से आया है, जहाँ से डिसाइपल शब्द आया है। इससे यही प्रकट होता है कि अनुशासन शिष्य का सहज धर्म है। केन्द्रस्थ, लयबद्ध, संकल्पवान व्यक्ति ही गुरु के दिए गए अनुशासन को स्वीकार, शिरोधार्य कर सकता है। ऐसे ही व्यक्ति के अन्दर विकसित होती है, जानने की क्षमता।

सत्य और तत्त्व से अनभिज्ञ लोग संकल्पवान होने का मतलब हठी होना समझ लेते हैं। पर नहीं, अंतस् में केन्द्रित होने के साथ आवश्यक है—विनम्रता, ग्रहणशीलता और सद्गुरु की चेतना की ओर खुला होना। जो तैयार है, सचेत है, प्रतीक्षारत और प्रार्थनामय है, उसी में सीखने की क्षमता आती है। यह सीखना गुरु के सान्निध्य में होता है। सद्गुरु के हृदय में जल रही सत्य की ज्योति के संस्पर्श से ही शिष्य के हृदय की ज्योति जलती है। यही है सत्संग का मतलब। वैसे तो सत्संग बहुप्रचलित शब्द है, लेकिन अर्थ कम लोगों को मालूम है। इस शब्द का प्रयोग प्रायः गलत ही किया जाता है।

सत्संग का मतलब है—सत्य का गहरा सान्निध्य। इसका अर्थ है, सत्य के पास होना, उन सद्गुरु के अनुशासन में रहना, जो सत्य से एकात्म है। बस सद्गुरु के निकट बने रहना, खुले हुए, ग्रहणशील और प्रतीक्षारत। यदि साधक की यह प्रतीक्षा गहरी और सघन हो जाती है, तब एक गहन आत्ममिलन घटित होता है। इसके लिए जरूरी नहीं है कि सदा ही गुरु से शारीरिक निकटता हो। परम पूज्य गुरुदेव के शब्दों में- उन्हें जीवन भर में सिर्फ तीन बार अपनी गुरुसत्ता से मिलने का सौभाग्य मिला; पर आत्म-मिलन अबाध, अविराम और सतत था। दरअसल गुरु के बताए गए अनुशासनों में उनकी चेतना तरंगित होती है। इन्हें स्वीकारने और अपनाने का अर्थ है- उनकी चेतना को स्वीकारना और अपनाना। 'अथ' के घटित होते ही, शिष्यत्व के प्रकट होते ही साधक को एक अलग ही भाषा समझ में आने लगती है। तब शारीरिक निकटता जरूरी नहीं है, क्योंकि नयी भाषा है ही गैर शारीरिक। तब दूरी से कोई फर्क नहीं पड़ता, शिष्य एवं गुरु का सम्पर्क बना रहता है। केवल स्थान की दूरी ही नहीं, समय से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। गुरु का शरीर न रहे, लेकिन शिष्य का सम्पर्क तब भी बना रहता है। भौतिक शरीर को त्यागने के बावजूद भी गुरु-शिष्य बड़े मजे से मिलते रहते हैं। बिना किसी बाधा या व्यवधान के उनमें भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान चलता रहता है।

यह चमत्कार है—योग के अनुशासन का। गुरु द्वारा दिए गए व्रतबन्ध को श्रद्धापूर्वक स्वीकारने से शिष्य के जीवन में अनेकों चमत्कार घटते हैं। परम पूज्य गुरुदेव का जीवन स्वयं ही इसका जीता-जागता प्रमाण रहा। कोई गुरु कभी भी अपने शिष्य से दूर नहीं होता। वह कभी मरता नहीं उनके लिए, जो श्रद्धा सहित उसके अनुशासन को स्वीकार कर सकते हैं। वह मदद करता रहता है। वह हमेशा यहाँ ही होता है—शिष्य के पास। उसका सच्चा वासस्थान तो अपने शिष्य का हृदय होता है। प्रेम, श्रद्धा एवं आस्था स्थान और समय दोनों को मिटा देती है। अनुशासन देने वाला गुरु और प्राणपण से गुरु के अनुशासन को मानने वाला शिष्य दोनों एकदम पास-पास होते हैं। उनमें सदा ही सत्संग चलता रहता है।

'अथ योगानुशासनम्' के सूत्र का सार यही है- शिष्यत्व का जन्म और सद्गुरु की प्राप्ति। शिष्यत्व और सद्गुरु जब मिलते हैं- तभी योग साधना का प्रारम्भ होता है। अन्तर्यात्रा का विज्ञान जन्म लेता है। अस्तित्व में अनूठे प्रयोग शुरू होते हैं। महर्षि पतंजलि के इस प्रथम सूत्र को जो नहीं समझ पाते, योग साधना का प्रवेश द्वार उनके लिए कभी भी नहीं खुलता। परम पूज्य गुरुदेव के जीवन में भी यह द्वार इसी रीति से खुला था। 'अथ' शब्द की समझ ने, और योग अनुशासन की स्वीकार्यता ने ही उन्हें महायोगी बनाया। अपने सुदीर्घ साधनामय जीवन का निष्कर्ष बताते हुए उन्होंने लिखा- अध्यात्म एक उच्चस्तरीय विज्ञान है। इसके प्रयोगों के लिए हमें एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति सत्यान्वेषी बनना होगा। अध्यात्म की भाषा में शिष्यत्व ही इसका पर्याय और कसौटी है।

इन पंक्तियों को पढ़कर अपनी योग साधना प्रारम्भ करने वाले साधकों के लिए इस सूत्र की साधना के व्यावहारिक बिन्दु निम्न है- १. इस समझ को आत्मसात करना ही योग सत्य की प्राप्ति है, सिद्धि की प्राप्ति नहीं। २. 'अथ का पुण्य क्षण' लाने के लिए गुरुदेव को पुकारना, उनकी कृपा का आह्वान करना। ३. योग के प्राथमिक अनुशासन के रूप में किसी सुखप्रद आसन (सुखासन, पद्मासन आदि) पर देर तक बैठकर गायत्री

महामंत्र को जपने का अभ्यास, ४. इस विवेक पथ का अनुशीलन करके भी यदि अभी तक हमें योग की अनुभूति नहीं हो सकी है, तो इसका एक मात्र कारण यह है कि अपनी पात्रता अभी परिपक्व नहीं है, इसे परिपक्व करने के प्रयास में प्राणपण से जुटना।

इस सम्बन्ध में और अधिक व्यावहारिक ज्ञान पाने के लिए शान्तिकुञ्ज पत्र लिखकर परामर्श किया जा सकता है। अथवा फिर यहाँ नियमित रूप से संचालित होने वाले साधना सत्रों में भागीदारी करके अपनी जिज्ञासा का समाधान पाया जा सकता है। योग अपने आप में क्या है ? इसे अच्छी तरह से जाने बिना इसकी सच्ची साधना असम्भव है। पर आत्मा में शिष्यत्व के जन्म के बिना यह जाना भी नहीं जा सकता।

मन मिटे तो मिले चित्तवृत्ति योग का सत्य

जिनकी अन्तर्चेतना में शिष्यत्व जन्म ले चुका है, उन्हें महर्षि पतंजलि समाधिपाद के दूसरे सूत्र में योग के सत्य को समझाते हैं। इस दूसरे सूत्र में महर्षि कहते हैं-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ १/२॥

यही योग की मूलभूत एवं मौलिक परिभाषा है। इस सूत्र के शब्दों का अर्थ है- **योगः**= योग, **चित्तवृत्तिनिरोधः**= चित्त की वृत्तियों को रोकना (है)। लेकिन साधकों की दृष्टि में इस सूत्र का अर्थ है- योग मन की समाप्ति है। परम पूज्य गुरुदेव योग साधना के इस सत्य को समझाते हुए कहा करते थे- 'साधक का मन मिटे, तो उसे योग की सच्चाई समझ में आए।' महर्षि पतंजलि एवं गुरुदेव दोनों ही खरे वैज्ञानिक हैं, एकदम गणितज्ञ। वे इधर-उधर की बातें करके न अपना समय खराब करते हैं और न ही साधकों का।

उन्होंने पहले भी प्रथम सूत्र में एक वाक्य कहा था- 'अब योग का अनुशासन'- और बस बात समाप्त। इस एक वाक्य में उन्होंने परख लिया कि साधकों में सच्चाई कितनी है, उनमें खरापन कितना है। यदि वे सच्चे और खरे हैं, योग में उनकी सचमुच में रुचि है- आशा, अभिलाषा के रूप में नहीं, अनुशासन के रूप में, जीवन के रूपान्तरण के रूप में, अभी और यहाँ। ऐसे खरे और सच्चे साधकों को वे योग की परिभाषा देते हैं, योग मन की समाप्ति है। मन मिटे, तो बात बने।

यही योग की परिभाषा है, सही और सटीक। अलग-अलग आचार्यों ने, शास्त्रों ने योग को कई तरह से परिभाषित किया है। उन्होंने अनेकों परिभाषाएँ ढूँढी और बतायी हैं। कुछ का मत है—योग दिव्य सत्ता के साथ मिलन है। इनके अनुसार योग का मतलब ही मिलना, दो का जुड़ना। कई

कहते हैं—योग का मतलब है—अहंकार का ढह जाना। उनके अनुसार अहंकार बीच में दीवार है, जिस क्षण यह दीवार ढह जाती है, साधक दिव्य सत्ता से जुड़ जाता है। दरअसल यह जुड़ाव, तो पहले से ही था वह अहंकार के कारण भेद लगता रहा।

ऐसी और भी अनेकों व्याख्याएँ हैं, परिभाषाएँ हैं। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में **'समत्वं योग उच्यते'** तथा **'योगः कर्मसुकौशलम्'** कहकर योग को परिभाषित किया गया है, लेकिन महर्षि पतंजलि इन सभी आचार्यों-शास्त्रकारों से कहीं ज्यादा वैज्ञानिक हैं। वे पत्ते और टहनियाँ नहीं, सीधे जड़ पकड़ते हैं। गीता में बतायी गयी समता एवं कर्मकुशलता मिलेगी कैसे ? दिव्य सत्ता से साधक के अस्तित्व का जुड़ाव होगा किस तरह ? महर्षि पतंजलि की परिभाषा में इन सभी सवालों का सटीक जवाब है। वे कहते हैं, जब मन का अवसान हो जाएगा, जब मन मिट जाएगा। उनके अनुसार योग अ-मन की दशा है।

पतंजलि की इस बात को गुरुदेव एक नयी वैज्ञानिक अनुभूति देते हैं। वे कहते हैं सारा कुछ मन का जादू, इन्द्रजाल है। यह हटा कि समझो सारा भ्रम मिटा। उनके अनुसार यह शब्द 'मन' सब कुछ को अपने में समेट लेता है- अहंकार, इच्छाएँ, कामनाएँ, कल्पनाएँ, आशाएँ, तत्त्वज्ञान और शास्त्र। जहाँ कुछ जो भी सोचा जा सकता है, सोचा जा रहा है, वह मन है। जो भी जाना गया है, जो भी जाना जा सकता है, जो भी जानने लायक समझा जाता है, वह सब का सब मन के दायरे में है। मन की समाप्ति का मतलब है—जो जाना है, उसकी समाप्ति और जो जानना है उसकी समाप्ति। यह तो छलांग है-ज्ञानातीत में। जब मन न रहा, तो जो बचा वह ज्ञानातीत है।

मन के इसी सत्य को **गोस्वामी तुलसीदास** जी महाराज ने अपनी रामायण में गाया है- **'गो गोचर जहाँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥'** अर्थात् इन्द्रियाँ, इन्द्रियों की पहुँच और जहाँ-जहाँ तक मन जाता है, हे भाई, तुम उस सब को माया जानना, मिथ्या समझना। महर्षि

पतंजलि के अनुसार इसी माया का मिटना, मिथ्या का हटना यानि कि मन का समाप्त होना योग है।

मन की परेशानी, मन से परेशानी, साधकों का सबसे अहम् सवाल है, सबसे जरूरी और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस उलझन को सुलझाने के लिए सबसे पहले यह जान लें कि आखिर मन अपने आप में है क्या? यह हमारे भीतर बैठा हुआ क्या कर रहा है, क्या-क्या कर रहा है? आमतौर पर सब यही सोचते रहते हैं कि मन सिर में पड़ी या रखी हुई कोई भौतिक चीज है। पर परम पूज्य गुरुदेव इस बात को नहीं स्वीकारते। वह कहते हैं कि जिसने भी मन को अन्दर से पहचान लिया है, वह ऐसी बातें नहीं स्वीकारेगा। आज-कल का विज्ञान भी ऐसी बातों से इन्कार करता है। गुरुदेव कहते हैं मन एक वृत्ति, क्रियाशीलता है।

अब जैसे कि कोई चलता हुआ आदमी बैठ जाय, तो बैठने पर उसका चलना कहाँ भाग गया? तो बात इतनी सी है कि चलना कोई वस्तु या पदार्थ तो थी नहीं, वह तो एक क्रिया है। इसलिए कोई किसी के बैठने पर यह नहीं पूछा करता कि तुमने अपना चलना कहाँ छुपा कर रख दिया? यदि कोई किसी से ऐसा पूछने लगे, तो सामने वाला जोर से हँस पड़ेगा। वह यही कहेगा कि यह तो क्रिया है। मैं चाहूँ, तो फिर से चल सकता हूँ, बार-बार चल सकता हूँ। चाहने पर चलना रोक भी सकता हूँ। बस, कुछ इसी तरह मन भी एक तरह का क्रियाकलाप है। बस, मन या 'माइण्ड' शब्द से किसी तत्त्व या पदार्थ के होने का भ्रम होता है। यदि इस माइण्ड को माइण्डिंग कहा जाय, तो सत्य शायद ज्यादा साफ हो जाय। जैसे बोलना टाकिंग है, ठीक वैसे ही सोचना माइण्डिंग। यह सक्रियता थमे, तो मन का अवसान हो और साधक योगी बने।

योग की इस सच्चाई को बताने के लिए गुरुदेव यदा-कदा एक कथा सुनाया करते थे। वह कहते थे कि वाराणसी में रहने वाले **महान् सन्त तैलंग स्वामी** के पास एक किसी **बड़ी रियासत के राजा गए** और उन राजा ने तैलंग स्वामी से कहा, महाराज, मेरा मन बहुत बेचैन है, बहुत

अशान्त-परेशान है। आप महान् सन्त हैं, मुझे बताएँ कि मैं क्या करूँ, जिससे कि मेरा मन शान्त हो जाय।

तैलंग स्वामी वैसे तो बड़े कोमल स्वभाव के थे, पर कभी-कभी उनका रुख बड़ा अक्खड़ हो जाता। उस दिन भी उन्होंने बड़े अक्खड़पने से कहा, कुछ भी मत करो। पहले अपना मन मेरे पास लाओ। उस राजा को कुछ भी समझ में नहीं आया। उसने कहा, महाराज आप क्या कह रहे हैं? मुझे तो कुछ समझ में नहीं आ रहा। तैलंग स्वामी ने उसकी बातों की अनसुनी करके उससे कहा, ऐसा करो, सुबह चार बजे मेरे पास यहाँ कोई नहीं होता, तब आना और अकेले आना। और ध्यान रखना, अपना मन भी अपने साथ लेते आना, भूलना मत।

वह राजा सारी रात सो नहीं पाया। कई बार उसने सोचा कि वह उनके पास नहीं जाएगा। बार-बार वह अपने आप से कहता- इन स्वामी जी को लोग बेकार इतना बड़ा ज्ञानी मानते हैं, यह तो बहकी-बहकी बातें करते हैं। आखिर क्या मतलब है उनका यह कहने से भूलना नहीं, अपना मन भी अपने साथ लेकर आ जाना।

उस राजा को उस रोज ऊहापोह भारी रही। परन्तु चाहकर भी वह उस भेंट को रद्द न कर सके। तैलंग स्वामी थे ही इतने मोहक एवं चुम्बकीय। राजा को रात भर यही लगता रहा कि कोई अद्भुत चुम्बक उन्हें अपनी ओर खींच रहा है। चार बजने से कुछ पहले ही वह बिस्तर से उठ बैठा और कहने लगा, मैं उनके पास जाऊँगा जरूर। वे थोड़ी सी बहकी हुई बातें करते हैं, तो क्या हुआ, पर उनकी आँखें कहती हैं कि उनके पास कुछ अवश्य है।

ऐसे ही सोच-विचार करते हुए वह तैलंग स्वामी के पास पहुँच गया। पहुँचते ही उन्होंने कहा, आ गए तुम, कहाँ है तुम्हारा मन? राजा बोला, आप भी कैसी बातें करते हैं स्वामी जी! मेरा मन भला और कहाँ होगा, वह तो मुझमें ही है।

तैलंग स्वामी बोले, अच्छा तो पहले तो इस बात का निर्णय हो गया कि तुम्हारा मन तुममे ही है। तो अब दूसरी बात मेरी कही हुई करो, अब आँखें बन्द करके खोजो जरा कि मन कहाँ है ? तुम उसे ढूँढ लो कि वह कहाँ है, तो फिर उसी क्षण मुझे बता देना। मैं उसे शान्त कर दूँगा।

उस राजा ने तैलंग स्वामी का कहा मानकर आँखें बन्द कर ली और कोशिश करता गया देखने की और देखने की। जितना ही वह भीतर झाँकता गया, उतना ही उसे होश आता गया कि वहाँ कोई मन नहीं है, बस एक क्रिया मात्र है- सोचने की क्रिया, आशाओं, अभिलाषाओं, कामनाओं, कल्पनाओं की क्रिया। उसे समझ में आ गया कि मन कोई ऐसी चीज नहीं, जिसकी ओर ठीक से इशारा किया जा सके। लेकिन जिस क्षण उसने जाना कि मन कोई वस्तु नहीं, उसी क्षण उसे अपनी खोज का बेतुकापन भी खुलकर प्रकट हो गया। बात साफ हो गयी कि जब मन कुछ है ही नहीं, तो फिर इसके बारे में कुछ किया ही नहीं जा सकता। यदि यह केवल एक क्रिया है, तो बस उस क्रिया को क्रियान्वित न करो। यदि वह गति की भाँति चाल है, तो मत चलो।

यही सोचकर राजा ने अपनी आँखें खोल दी। तैलंग स्वामी मुस्कराने लगे और बोले—आ गयी बात समझ में! अब आगे से जब भी तुम महसूस करो कि तुम अशान्त हो, बस जरा भीतर झाँक लेना। यह झाँकना, यह अवलोकन ही मन की गति को थाम देता है। यदि तुम पूरी उत्कटता से झाँकों, तो तुम्हारी सारी ऊर्जा एक दृष्टि बन जाती है। सामान्य क्रम में वही ऊर्जा गति और सोच-विचार बनी रहती है।

परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे- मनुष्य का अभ्यास, उसकी आदतें अपनी समूची ऊर्जा को सोच-विचार बनाने में लगी रहती है। वह जन्मों-जन्मों से, हो सकता है लाखों जन्मों से यही करता रहा है। उसके इस सहयोग से, लगातार ऊर्जा देने से मन की नदी आज बड़े ही वेगपूर्ण ढंग से प्रवाहित हो रही है। अपने अतीत के संवेग के कारण मन भारी वेग और आश्चर्यजनक जादुई समर्थता के साथ बहा जा रहा है। जो योग साधना करना चाहते हैं, उन्हें यह बात भली प्रकार समझ लेनी है।

योग साधना का अर्थ है- अपने को इससे अलग करना। मन की क्रिया से अपने जुड़ाव-लगाव को खत्म करना। यदि मन के साथ, उसकी क्रियाशीलता के साथ अपनी आसक्ति समाप्त हो जाए, तो मन को ऊर्जा मिलना बन्द हो जाती है। फिर तो मन बस थोड़ी देर बहेगा, ऊर्जा के अभाव में स्वयं ही थम जाएगा। जब पिछला संवेग चुक जाएगा, जब पिछली ऊर्जा समाप्त हो जायगी, तब मन अपने आप ही रुक जाएगा। और जब मन रुक जाएगा, तब हम योग साधक से योगी होने की ओर कदम बढ़ाते हैं। तब फिर पतंजलि की परिभाषा, परम पूज्य गुरुदेव के द्वारा कराया गया बोध, हमारी खुद की अपनी अनुभूति बन जाएगा। हम समझ जाएँगे कि 'मन की समाप्ति योग है।'

दैनिक जीवन में १५ मिनट से ३० मिनट का समय निकाल कर इसकी अनुभूति पायी जा सकती है। नियत समय एवं नियत स्थान के अनुशासन को स्वीकार कर अपने आसन पर स्थिर होकर बैठें। स्वयं की गहराई में टिकें। पहले ही क्षण मन के वेगपूर्ण प्रवाह की, भारी लहरों की अनुभूति होगी। इस प्रवाह, इसकी लहरों से आकर्षित न हों। स्वयं को इससे असम्बद्ध करें। यह अनुभव करें आप अलग हैं और मन का वेगपूर्ण प्रवाह अलग। जैसे-जैसे यह अनुभव गाढ़ा होगा, मन का वेगपूर्ण प्रवाह थमता जाएगा। लेकिन ध्यान रहे, बार-बार मुड़-मुड़ कर यह देखना नहीं है कि मन का वेग थमा या नहीं। क्योंकि ऐसा करने से आप फिर से अपनी ऊर्जा मन को देंगे, और वह फिर से प्रचण्ड हो उठेगा। मन से अलग अपने में स्वयं की स्थिरता की अनुभूति का अंकुर जितनी तेजी से बढ़ेगा, उतनी ही 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' की अनुभूति साकार होती जाएगी।

क्या होगा मंजिल पर?

इस जिज्ञासा का अंकुरण सहज है कि चित्तवृत्तियों का निरोध करने वाले योगी की क्या भाव दशा होती है? इसका समाधान करते हुए महर्षि तीसरा सूत्र प्रकट करते हैं। यह तीसरा सूत्र है-

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ १/३॥

इस सूत्र का शब्दार्थ कुछ यूँ होगा- **तदा**=तब (वृत्तियों का निरोध होने पर); **द्रष्टुः**= द्रष्टा की; **स्वरूपे**=स्वरूप में; **अवस्थानम्**=अवस्थिति (होती है)।

यह योगी की भावदशा है। चित्तवृत्ति निरोध की योग साधना का सुफल है। किसी भी योग साधक की साधना का लक्ष्य है। महर्षि पतंजलि विश्व भर के मानव इतिहास में सर्वाधिक अनूठे व्यक्तित्व हैं। उन्हें मानव चेतना का सम्यक् ज्ञान है। उनको मनुष्य की कमियों, कमजोरियों, अच्छाइयों व विशेषताओं के बारे में भली प्रकार पता है। उन्हें मानव चेतना की सीमाएँ मालूम हैं, तो सम्भावनाएँ भी ज्ञात हैं। योग सूत्रकार महर्षि इस सच्चाई को अच्छी तरह जानते हैं कि गन्तव्य पता हो, तो ही चलने वाले के पाँवों में गति आती है। उसके मन में हर पल उत्साह उमगता रहता है। लक्ष्य का स्वरूप स्पष्ट होने से ही पथ अर्थवान् होता है, राहें गुणवान् बनती हैं। मंजिल का ही पता न हो, तो भला राही किधर जाएगा? उसके पाँवों की सारी मेहनत मंजिल के अभाव में भटकन की थकन बन कर रह जाएगी।

यही वजह है कि महर्षि योग साधक के सामने सबसे पहले उसका लक्ष्य स्पष्ट करते हैं। साधकों को बताते हैं कि तुम्हारा मकसद क्या है? तुम्हारी मंजिल कौन सी है? योग क्या है? और योगी कैसा होता है? यह लक्ष्य ही तो साधना की दिशा है। योग साधक का प्राप्तव्य एवं गन्तव्य है। पहले मंजिल का पता, फिर राह की बातें महर्षि की यही नीति है। इसी

कारण वह पहले समाधिपाद के सूत्रों का बयान करते हैं, बाद में साधन-पाद के सूत्र बताते हैं। अन्य दोनों पादों का क्रम इनके बाद आता है। समाधिपाद के इस तीसरे सूत्र में महायोगी महर्षि बताते हैं, चित्त वृत्ति का निरोध हुआ यानि कि मन का शासन मिटा। और तब साधक-सिद्ध हो जाता है। वह योगी बनता है, द्रष्ट बनता है, साक्षी भाव को उपलब्ध होता है। वह स्वयं में, अपने अस्तित्व के केन्द्र में, अपनी आत्मचेतना में अवस्थित हो जाता है।

यही बुद्धत्व का अनुभव है। योगियों का कैवल्य है। जीवन में समस्त प्रश्नों का समाधान करने वाली समाधि है। ज्ञानियों की चरम दशा है। विभिन्न साधनाओं के नाना पथ इसी एक लक्ष्य की ओर जाते हैं। योगिवर **स्वामी विवेकानन्द** ने इसी गन्तव्य पर पहुँचकर गाया था-

सूर्य भी नहीं है, ज्योति-सुन्दर शशांक नहीं,
छाया सा यह व्योम में यह विश्व नजर आता है।
मनोआकाश अस्फुट, भासमान विश्व वहाँ,
अहंकार स्त्रोत ही में तिरता डूब जाता है।
धीरे-धीरे छायादल लय में समाया जब,
धारा निज अहंकार मन्दगति बहाता है।
बन्द वह धारा हुई, शून्य से मिला है शून्य,
'अवाङ्मनसगोचरम्' वह जाने जो ज्ञाता है।

मन के पार यही है—बोध की स्थिति। यही है अपने स्वरूप में अवस्थिति। इसी में स्थित होकर साधक द्रष्टा बनता है, योगी बनता है। कर्म और जीवन का, भाव और विचारों का, देह, प्राण, मन, सृष्टि और समष्टि की समस्त हलचलों का साक्षी बनता है।

परम पूज्य गुरुदेव के जीवन में इस सूत्र का जागरण अपने सद्गुरु से प्रथम मिलन में ही हो गया। वह जन्मों-जन्मों की योग साधना से सिद्ध थे। महात्मा कबीर, समर्थ रामदास, श्रीरामकृष्ण परमहंस के रूप में उन्होंने योग के सभी तत्त्वों का सम्यक् बोध प्राप्त किया था। इस बार तो उन्हीं की भाषा में- 'सिर्फ पिसे को पीसना था, कुटे को कूटना था, बने को बनाना

था। यानि कि किए हुए का पुनरावलोकन करना था। **सद्गुरु की कृपा की किरण उतरी बस एक पल में हो गया।'** अपनी इस अनुभूति को गुरुदेव यदा-कदा हँसते हुए बता देते थे। वह कहते- 'तुम लोग एक बार यदि बहुत अच्छी तरह से साइकिल चलाना सीख जाओ, तुम्हें खूब ढंग से साइकिल चलाना आ जाए। फिर तुम्हारी साइकिल यदि किसी तरह बदल जाय या बदल दी जाय, तो नई साइकिल में किसी तरह की कठिनाई नहीं आती है। बस थोड़ी देर बाद नयी साइकिल भी पुरानी वाली की तरह अच्छे से चलने लगती है।'

गुरुदेव बताते थे, बस कुछ ऐसा ही मेरे साथ हुआ। अपने स्वरूप में स्थिति तो सदा से थी। पिछले जन्मों से थी। इस नए शरीर में भी उसके लिए कोई खास कठिनाई नहीं हुई। लेकिन हम सब साधकगण इसे किस रीति से पाएँ? इसके जवाब में वह एक बात कहा करते थे- सारा परदा मन का है। मन के इस परदे को हटा दो, फिर सब कुछ साफ-साफ नजर आने लगता है। द्रष्टा भाव भी वही है, आत्मस्वरूप में स्थिति भी वही है। बस, मन की झिलमिल के कारण नजर नहीं आ पाती। बात पते की है। समझ में भी आती है। लेकिन यह हो कैसे? मन का परदा हटे, तो कैसे हटे। महर्षि पतंजलि भी यही कहते हैं कि चित्तवृत्तियों का निरोध हो, तो योग सध जाय। योग साधना का सुफल मिल जाय। अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाय। लेकिन सवाल है कि यह सब हो तो कैसे हो?

इस कठिन सवाल का बड़ा आसान सा जवाब गुरुदेव देते थे। वह कहते मैंने अपने मन को अपने मार्गदर्शक का गुलाम बना दिया। तुम अपने मन को अपने सद्गुरु का गुलाम बना दो। उन्हें अर्पित और समर्पित कर दो। तुम ऐसा कर सके-इसकी एक ही कसौटी है कि अब तुम अपने लिए नहीं सोचोगे। न अतीत के लिए परेशान होगे, न वर्तमान के लिए विकल होगे और न ही भविष्य की चिन्ता करोगे। तुम्हारे लिए जो कुछ जरूरी होगा, वह सद्गुरु स्वयं करेंगे। तुम्हें तो बस अपने गुरु का यंत्र बनना है। इस संकल्प के कार्यरूप में परिणत होते ही महर्षि पतंजलि के इस सूत्र का अर्थ प्रकट होने

लगता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध होने, मन का परदा हटने व स्वरूप में अवस्थित होने का सत्य अपने आप ही उजागर हो जाता है।

इस सूत्र की साधना अन्तर्चेतना में कुछ इस तरह से स्वरित होती है-

महर्षि पतंजलि का सूत्र
बना अपने सद्गुरु का स्वर
इसका समग्र अर्थ
अन्तर्चेतना में तब होता भास्वर
जब हमारा मन
उसका हर स्पन्दन
करता गुरुदेव को समर्पण
न बचती कोई कल्पना
न कामना, न याचना
होती बस एक ही प्रार्थना
प्रभु, बनें हम आपके यंत्र
समर्पण की वर्णमाला
एकमात्र मंत्र
इसका सुफल
होता जीवन में अविकल
आत्मस्वरूप में अवस्थिति
तब बनती जीवन स्थिति!

समर्पण हुआ है, इसका मतलब यही है कि अब मन सद्गुरु के चिन्तन एवं उनके कार्यों में संलग्न हो गया। किसी भी तरह के स्वार्थ का मोह छूटा, अहंता के सारे बन्धन टूटे। ऐसे में आत्मस्वरूप में अवस्थिति सहज है। इस भाव दशा में मन रूपान्तरित हो जाता है। उसकी दृष्टि एवं दिशा बदल जाती है। समर्पण की इस साधना के द्वारा अपने स्वरूप को जानने, पाने एवं अवस्थित होने में मन अनेकों विघ्न खड़े करता हैं।

❖❖

समर्पण हुआ, तो निश्चित ही साक्षी भाव की अनुभूति होगी और साधक अपने स्वरूप में अवस्थित होगा। पर यदि समर्पण न हो सका तब ? इस प्रश्न का उत्तर महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र यानि कि समाधि पाद के चौथे सूत्र में देते हैं। वह कहते हैं-

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ १/४॥

साक्षी होने के अलावा अन्य सभी अवस्थाओं में मन की वृत्तियों के साथ तादात्म्य हो जाता है। ये वृत्तियाँ साधक की अन्तर्चेतना को मनचाहा भटकाती हैं। सुख-दुख के सपने दिखाती हैं। कभी हँसाती हैं, कभी रुलाती हैं। इच्छाओं के कच्चे धागों से बाँधती हैं। कल्पनाओं और कामनाओं की मदिरा पिला कर बेहोश करती हैं।

साक्षी होने के अतिरिक्त अन्य सभी अवस्थाओं का यही सत्य है। जिसे हम सभी किसी न किसी रूप में रोजमर्रा की जिन्दगी में अनुभव करते रहते हैं। मजे की बात तो यह है कि यदा-कदा हम में से कई या यूं कहें कि प्रायः हम सभी इन्हीं कामनाओं की तृप्ति के लिए साधना भी करने लगते हैं। गाढ़ी बेहाशी को और गाढ़ा करने के लिए जप-तप-व्रत का सिलसिला शुरू करते हैं। इसकी सफलताओं पर खुशियों की अठखेलों से खेलते हैं और असफल होने पर गम के आँसूओं से अपने-आपको भिगोते हैं। वृत्तियों का यह बहुरंगी तमाशा हमारे जीवन का सामान्य परिचय है। इसमें स्वप्न तो अनेक हैं, सत्य एक भी नहीं। इसी तथ्य का संकेत महर्षि के सूत्र में है।

परम पूज्य गुरुदेव महर्षि पतंजलि के बारे में कहा करते थे कि वे अद्‌भुत हैं। वे साधक को तपाने में, उससे साधना कराने में विश्वास करते हैं। उनका इधर-उधर की कहानियाँ-किस्से सुनाने में कतई विश्वास नहीं

है। बहलाने-फुसलाने में उनका कोई यकीन नहीं है। एक प्रसंग में गुरुदेव के सामने जब इस सूत्र की चर्चा चली, तो उन्होंने कहा- 'अब यहीं देखो कैसी दो टूक बात कह दी उन्होंने। साधकों के सामने बिलकुल बात साफ कर दी कि या तो साक्षी भाव को उपलब्ध कर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाओ या फिर वृत्तियों के साथ तादात्म्य करके भटकते रहो। इन दो के अलावा कोई तीसरी सच्चाई नहीं हो सकती। जान सको तो जानो, मान सको तो मानो।'

गुरुदेव कहा करते थे, पतंजलि के सूत्र तो साधकों के लिए भेजे गए टेलीग्राम हैं। इनमें इधर-उधर का एक भी फालतू शब्द नहीं है। कभी-कभी तो एक सूत्र पूरा वाक्य तक नहीं है। वह तो अल्पतम सारभूत है। ये सूत्र ऐसे हैं, जैसे कोई तार करने जाय और वहाँ बेकार के अनावश्यक शब्द काट दे। तार कां मतलब ही यही है, कम से कम शब्दों में सम्पूर्ण सन्देश कह दिया जाय। तार की जगह अगर पत्र लिखा जाता, तो शायद दस पन्नें भरने के बावजूद बातें पूरी न हो पाती। लेकिन एक तार में, दस शब्दों में वह केवल पूरा ही नहीं होता, बल्कि पूरे से भी थोड़ा अधिक होता है। वह सीधी हृदय पर चोट करता है। उसमें सारतम होता है।

इसी प्रसंग में गुरुदेव ने यह भी बताया कि उनकी मार्गदर्शक सत्ता ने भी उनसे बड़ी सीधी-सपाट भाषा में एकदम थोड़े शब्दों में कहा था, साधना करनी है, तो इन्द्रिय सुखों से मुँह मोड़ना होगा। एकदम रूखी-सूखी जिन्दगी जीनी होगी। ये बातें बताकर वह थोड़ा रूके, फिर कहने लगे- यह तो बाद में पता चला कि इस रूखे-सूखे पन में आनन्द की अनन्तता समायी है। बस यही बात महर्षि पतंजलि के बारे में है। वह बहुत ही रूखी-सूखी धरती पर ले चलेंगे, मरुस्थल जैसी भूमि पर। लेकिन मरुस्थल का अपना सौन्दर्य है। उसमें वृक्ष नहीं होते, उसमें नदियाँ नहीं होती, लेकिन उसका एक अपना विस्तार होता है। किसी जंगल की तुलना उससे नहीं की जा सकती। जंगलों का अपना सौन्दर्य है, पहाड़ियों का अपना सौन्दर्य है, नदियों की अपनी सुन्दरताएँ हैं। मरुस्थल की अपनी

विराट् अनन्तता है। हाँ, इस राह पर चलने के लिए हिम्मत की जरूरत है। पतंजलि का हर सूत्र साधकों के साहस के लिए चुनौती है। उनके विवेक को सावधान रहने की चेतावनी है।

पतंजलि बिलकुल साफ तौर पर कहते हैं कि यदि आपको, हमको, मनुष्य मात्र को यदि भटकन, उलझन, तनाव, चिन्ता, दुःख, पीड़ा, अवसाद से सम्पूर्ण रूप से मुक्ति पानी है, तो साक्षी भाव को उपलब्ध होने के अलावा अन्य कोई चारा नहीं है। क्योंकि अन्य अवस्थाओं में तो मन की वृत्तियों के साथ तादात्म्य बना ही रहेगा। मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है। यह बात किसी एक पर, किसी व्यक्ति विशेष पर लागू नहीं होती। बात तो सारे मनुष्यों के लिए कही गयी है। मानव प्रकृति की बनावट व बुनावट की यही पहचान है। साक्षी के अतिरिक्त दूसरी सभी अवस्थाओं में मन के साथ तादात्म्य बना रहता है।

विचारों के प्रवाह के साथ कब एकात्मता सध जाती है, पता ही नहीं चलता। ये विचार कैसे भी हो सकते हैं, किसी भी तरह के हो सकते हैं। विचारों के बादलों के साथ हम एक हो जाते हैं। कई बार सफेद बादलों के साथ, कई बार वर्षा से भरे बादलों के साथ, तो कई बार वर्षा रिक्त खाली बादलों के साथ। लेकिन कुछ भी हो, किसी न किसी विचार के बादल के साथ तादात्म्यता बनी रहती है। और ऐसे में हम आकाश की शुद्धता गँवा देते हैं। अपने आत्मस्वरूप के अन्तरिक्ष की शुद्धता खो देते हैं। और बादलों का यह घिराव घटित ही इस कारण होता है, क्योंकि हम तादात्म्य जोड़ लेते हैं। विचारों के साथ एक हो जाते हैं।

ख्याल आता है कि हम भूखे हैं और विचार मन में कौंध जाता है। विचार इतना भर है कि पेट को भूख लगती है। बस, उसी क्षण हम तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। उसकी आसक्ति से घिर जाते हैं। हम कहने लगते हैं, मैं भूखा हूँ। मुझे भूख लगी है। मन में तो भूख का विचार भर आया था, पर हमने उसके साथ तादात्म्य बना लिया है। हम कहने लगे, मुझे भूख लगी है। बस यही तादात्म्य है।

ऐसी बात नहीं है कि ज्ञानियों को, योगियों को, साधकों को, सिद्धों को भूख महसूस नहीं होती। भूख तो वे भी महसूस करते हैं। बुद्ध भी भूख महसूस करते थे, पतंजलि भी भूख महसूस करते हैं। लेकिन पतंजलि कभी यह नहीं कहेंगे कि मुझे भूख लगी है। वे तो बस इतना कहेंगे कि शरीर भूखा है, वे कहेंगे, मेरा पेट भूख महसूस कर रहा है। बुद्ध कहेंगे, भूख तो पेट में है। मैं तो केवल साक्षी भर हूँ। पेट भूखा है, लेकिन योगीजन उसके साक्षी मात्र बने रहेंगे। लेकिन हम सब तादात्म्य बना लेते हैं, विचार के साथ एक हो जाते हैं।

विचार और वृत्तियों के बदलते स्वरूप के साथ हमारा तादात्म्य भी बदलता है। कभी हम एक के साथ होते हैं, तो कभी दूसरी, तीसरी, चौथी, और पाँचवी वृत्ति के साथ। ये तादात्म्य ही संसार बनाते हैं। दरअसल यही संसार है। यदि हम तादात्म्यों में हैं, तो संसार में हैं, दुःख में हैं। और यदि इन तादात्म्यों के पार और परे चले गए, तो समझो मुक्त हो गए। योग की परम सिद्धि एवं सम्बोधि की परम अवस्था यही है। यही है निर्वाण और कैवल्य। वृत्तियों से तादात्म्य टूटते ही हम इस दुःख भरे संसार से पार होकर आनन्द के जगत् में प्रविष्ट हो जाते हैं।

आनन्द का यह जगत् बिलकुल अभी और यहाँ है। बिलकुल अभी, इसी क्षण। इसके लिए एक पल भी प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है। बस मन का साक्षी भर होना है। केवल वृत्तियों से नाता तोड़ना है। यह तथ्य कुछ यूँ है-

सुख कहीं मिलेगा, इस भ्रान्ति का नाम संसार है,
सुख अभी है, यहीं है, इस बोध का नाम निर्वाण है,
सुख किसी से मिलेगा, इस भ्रान्ति का नाम संसार है,
सुख अपना स्वभाव है, इस जागृति का नाम मोक्ष है।

अनूठी हैं-मन की पाँचों वृत्तियाँ

वृत्तियों की कथा का अभी अंत नहीं हुआ है। पाँचवे सूत्र में महर्षि पतंजलि इस तत्त्व को और अधिक सुस्पष्ट करते हैं। इस सूत्र में वह कहते हैं-

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः॥ १/५॥

यानि मन की वृत्तियाँ पाँच हैं। वे क्लेश का स्रोत भी हो सकती हैं और अक्लेश का भी।

योगसूत्रकार महर्षि का यह सूत्र पहली नजर में एकदम पहेली सा लगता है। एक बार में ठीक-ठीक समझ में नहीं आता कि मन की पाँचों वृत्तियाँ किस तरह और क्यों अपना रूप बदल लेती हैं? कैसे वे क्लेश यानि की दुःख, पीड़ा की जन्मदात्री बन जाती हैं? और कैसे वे हमें अक्लेश अर्थात् गैर दुःख या पीड़ा विहीन अवस्था में ले जाती है? इन सवालों का जवाब पाने के लिए हम सभी को सत्य की गहन अन्वेषण करना पड़ेगा। तत्त्व की गहराई में प्रवेश करना होगा। तब कहीं जाकर बात को समझने की उम्मीद बँधेगी।

यहाँ भी 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' के साथ 'गहरे पानी पैठि' की शर्त जुड़ी हुई है। इस शर्त को पूरा करके ही महर्षि का मन्तव्य जाना जा सकता है। लेकिन इस गहरे पानी में पैठने की शुरूआत कहीं किनारे से ही करनी होगी। और यह किनारा है शरीर। जिससे हम सब काफी सुपरिचित हैं। यह परिचय इतना प्रगाढ़ हो चला है कि हममे से कइयों ने यह मान लिया है कि वे शरीर से भिन्न और कुछ हैं ही नहीं। इस दृश्यमान शरीर के मुख्य अवयव भी पाँच हैं, जिन्हें पंच कर्मेन्द्रियाँ भी कहते हैं। इस शरीर से ही जुड़ा एक पाँच का समूह और भी है, जिसे पंच ज्ञानेन्द्रियाँ कहा गया है। इन्हीं पाँच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से हमारी अन्तर्चेतना वाह्य जगत्

से सम्बन्ध स्थापित करती है। वाह्य जगत् की अनुभूतियों का आस्वादन प्राप्त करती है। वाह्य जगत् एक सा होने पर भी इसकी अनुभूति का रस और आस्वादन का सुख हर एक का अपना निजी होता है। यह निजीपन मन और उसकी वृत्तियों के ऊपर निर्भर है। ये वृत्तियाँ भी कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों की ही भाँति पाँच हैं।

जहाँ तक मन की बात है, तो परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि मन शरीर से बहुत अलग नहीं है। यह शरीर से काफी कुछ जुड़ा और चिपटा है। शरीर से मन का जुड़ाव इस कदर है कि इसे यदि शरीर का सूक्ष्म हिस्सा कहा जाय, तो कोई गलत बात न होगी। यही कारण है शरीर के सुखों-दुःखों से यह सामान्य अवस्था में बुरी तरह प्रभावित होता है। यह भी एक तरह से शरीर ही है, परन्तु योग साधना के बिना इसका अलग अस्तित्व अनुभव नहीं हो पाता। हालाँकि योग साधना करने वाले इस सच्चाई को बड़ी आसानी से जान लेते हैं कि दृश्य शरीर यदि स्थूल शरीर है, तो अपनी शक्तियों एवं सम्भावनाओं के साथ मन सूक्ष्म शरीर है। इसका विकास इस तथ्य पर निर्भर करता है कि मन और उसकी वृत्तियों का किस तरह से उपयोग किया गया?

यदि बात दुरुपयोग तक सीमित रही है, मानसिक शक्तियाँ केवल इन्द्रिय भोगों में खपती रही हैं, केवल क्षुद्र स्वार्थ के साधन जुटाए जाते रहे हैं, खोखले अहंकार की प्रतिष्ठा को ही जीवन का सार सर्वस्व समझा गया है, तो फिर मन की पाँचों वृत्तियाँ जीवन में क्लेश का स्रोत साबित होने लगती है। यदि बात इसके उलट है, दिशा मन के सदुपयोग की है, मन को योग साधना में लीन किया गया है, तो मन की यही पाँचों वृत्तियों अक्लेश का स्रोत सिद्ध होती है। मन की पञ्चवृत्तियाँ जिन्दगी में क्लेश की बाढ़ किस तरह लाती है, इसका अनुभव हममें से प्रायः सभी को है। परन्तु इनका अक्लेश के स्रोत के रूप में सिद्ध होना परम पूज्य गुरुदेव द्वारा बताए गए जीवन साधना के स्वर्णिम सूत्रों से ही सम्भव है।

गुरुदेव कहा करते थे कि वृत्तियों का खेल समझ में न आये, तो सब कुछ किया-धरा बेकार चला जाता है। सारा जोग-जाप व्यर्थ हो जाता है। तपस्या-साधना रावण, कुम्भकर्ण, हिरण्यकश्यपु एवं हिरण्याक्ष ने भी कम नहीं की थी। इनकी घोर तपस्या के किस्सों से पुराणों के पन्ने भरे पड़े हैं। पुराण कथाएँ कहती हैं कि इनकी तपस्या से मजबूर होकर स्वयं विधाता इन्हें वरदान देने के लिए विवश हुए। परन्तु वृत्तियों के शोधन के अभाव में समस्त तप की परिणति अन्ततः क्लेश का ही स्रोत साबित हुई। अपनी तमाम उम्र ये वासनाओं की अतृप्ति की आग में जलते-झुलसते रहे। इन्हें जो कुछ भी मिला, इन्होंने जो भी अर्जित किया, उसने इनकी अतृप्ति की पीड़ा को और अधिक चरम तक पहुँचा दिया।

इसके विपरीत उदाहरण भी हैं। सन्त कबीर और महात्मा रैदास के पास साधारण जीवन यापन के साधन भी मुश्किल से थे। बड़ी मुश्किल से इनकी गुजर-बसर चलती थी। इनके जीवन का ज्यादातर भाग कपड़ा बुनने और जूता गाँठने में चला जाता था। इनमें से किसी ने अद्‌भुत एवं रोमांचकारी तपस्या भी नहीं की। परन्तु एक काम अपनी हर श्वास के साथ किया। आने-जाने वाली हर श्वास के साथ मन और उसकी वृत्तियों के शोधन में लगे रहे। अपनी प्रगाढ़ भगवद्‌भक्ति से अपनी प्रत्येक मानसिक वृत्ति को परिष्कृत कर डाला। इसकी परिणति भी इनके जीवन में अति सुखद हुई। सभी पाँचों वृत्तियों इनके जीवन में अक्लेश का, आनन्द का स्रोत बन गयी। वृत्तियों की निर्मलता की इसी अनुभूति को पाकर महात्मा कबीर गा उठे थे- **'कबिरा मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर। पाछे-पाछे हरि फिरैं कहत कबीर-कबीर॥'**

वृत्तियों की दुर्गन्ध मिटाने वाली, इन्हें शोधित, सुरभित एवं सुगंधित करने वाली बयार विराट् से आती है। यह बयार हमारे अपने जीवन में आए, इसके लिए हमें स्वार्थ एवं अहं के दोनों कपाट खोलने पड़ेंगे। आनन्द तो समस्त सृष्टि में, विराट् ब्रह्माण्ड में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। यह उमड़-घुमड़कर हमारे भीतर आने के लिए आतुर है। बस हमीं अपने

कपाट बन्द किए बैठे हैं। इस बात को हम कुछ इस तरह भी समझ सकते हैं कि सुबह होने पर भी यदि हम अपने कमरे की खिड़कियाँ, दरवाजे न खोलें, तो सूर्य की किरणें चाहकर भी हमारे कक्ष में घुस न पाएँगी। जबकि खिड़कियाँ खोलते ही हजारों-हजार किरणें एक साथ आकर कक्ष को उजाले से भर देती हैं। खिड़की खोलने से पहले भी सूर्य यथावत था। यदि वह वहाँ नहीं होता, तो भला किरणें कहाँ से आती। बस खिड़कियों के अवरोध के अवरोधक हटते ही अँधेरा उजाले में रूपान्तरित हो गया।

कुछ ऐसा ही रूपान्तरण वृत्तियों का भी होता है। स्वार्थ और अहं के कपाट खुले, वासना की तृप्ति की जगह भक्ति की अनुरक्ति में लगा कि वृत्तियाँ बदलने लगती हैं। जो पहले कभी केवल दुःखों को, पीड़ा को, सन्ताप को, अतृप्ति को जन्म देती थीं, वही अब आनन्द की, तृप्ति की, सुखों की उफनती बाढ़ की जन्मदात्री बन जाती हैं।

जीवन कमल खिला सकती हैं–पंच वृत्तियाँ

ऐसा अनूठा रूप परिवर्तित करने वाली वृत्तियाँ हैं कौन सी, इस तत्व को छठे सूत्र में महर्षि पतंजलि इस तत्त्व को और भी अधिक सुस्पष्ट करते हैं। इस सूत्र में वह कहते हैं–

प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ १/६ ॥

यानि कि ये वृत्तियां हैं– प्रमाण (सम्यक् ज्ञान), विपर्यय (मिथ्याज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा और स्मृति। ये पाँचों वृत्तियाँ मन की पाँच सम्भावनाएँ हैं, मन के पाँच रहस्य हैं। इन्हें जान–समझ लेने पर समूचे मन को जान–समझ लिया जाता है। इन पाँच वृत्तियों को मन की पाँच शक्तियाँ भी कहा जा सकता है, जिनके सही सदुपयोग से जीवन सहस्त्रदल कमल की भांति पुष्पित एवं सुरभित हो उठता है।

इस बारे में परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि जीवन को समझना है, तो मन को समझना होगा और मन को समझने के लिए मन की पाँचों वृत्तियों को जान लेना बहुत जरूरी है। तो शुरूआत पहली वृत्ति से करते हैं। यह पहली वृत्ति है **'प्रमाण'** यानि कि सम्यक् ज्ञान। 'प्रमाण' संस्कृत भाषा का बहुत गहरा शब्द है। इसकी गहराई इस कदर है कि किसी भी अन्य भाषा में इसका एकदम सही अनुवाद सम्भव नहीं। यह जो सम्यक् ज्ञान कहा गया, वह 'प्रमाण' का सही अर्थ नहीं, बल्कि अर्थ की हल्की सी छाया भर है। दरअसल प्रमाण मूल शब्द 'प्रमा' से आया है। इसका भावार्थ है– सत्य–अनुभव। इस प्रमा का करण यानि की प्रमाण। सार संक्षेप में प्रमाण को यथार्थ अनुभव सा सत्य अनुभव करने की शक्ति कहा जा सकता है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि यह शक्ति मन में है। परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि प्रमाण हमारे मन की वह उच्चतम क्षमता है, जो सामान्य

क्रम में अविकसित अथवा अल्प विकसित या अर्धविकसित दशा में होती है। यदि यह क्षमता ठीक तरह से विकसित या जाग्रत् हो जाए, तो फिर जो कुछ भी जाना जाय सत्य होता है। साधारण तौर पर प्राय: मन की यह शक्ति अविकसित ही रह जाती है। इसका प्रयोग हो ही नहीं पाता। मन की इस शक्ति को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव एक उदाहरण दिया करते थे। वह कहते थे- 'मान लो तुम जिस घर में रहते हो, उस घर में बिजली-बत्ती तो है, पर उसके स्विच का तुम्हें पता नहीं। एकदम घनघोर-घुप अन्धेरा वहाँ छाया रहता है। अब तुम्हें रहना उसी घर में है, और स्विच के बारे में तुम्हें पता नहीं है, तो क्या स्थिति होगी ? बस जैसे-तैसे टटोल कर काम चलाना पड़ेगा। कई बार ठोकरें लगेंगी। यह भी हो सकता है कि कई बार सिर फूटे और पैर टूटे। इस अंधेरे के कारण न जाने कितनी मुश्किलें खड़ी होंगी।'

अब यदि किसी तरह प्रयास, प्रयत्न से अथवा गुरुकृपा या भगवत्कृपा से बिजली का स्विच मिल जाय, यही नहीं वह स्विच ऑन हो जाय और घर के कोने-कोने में रोशनी बिखर जाय, हर ओर उजियारा फैल जाय, तो एक पल में सारी परेशानियाँ, सारी मुश्किलें समाप्त हो जाएँगी। फिर सब कुछ साफ-साफ नजर आएगा। सत्य प्रश्न या जिज्ञासा की विषय वस्तु न बनकर जीवन का अनुभव हो जाएगा। बस यही है प्रमाणवृत्ति। इसके विकसित होने का मतलब है कि हाथ में स्विच आ गया। कहीं किसी तरह की कोई भटकन नहीं। किसी से कुछ पूछने की भी जरूरत नहीं। किसी तरह के भ्रम अथवा सन्देह की भी कोई गुंजाइश नहीं।

बुद्ध, महावीर, श्री रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमण या फिर स्वयं परम पूज्य गुरुदेव इन सबमें इस प्रमाणवृत्ति की स्वाभाविक जागृति थी। गुरुदेव अपने जीवन काल में हजारों जगह गए और वहाँ लाखों लोगों से मिले। लोगों से मिलने का यह सिलसिला तब भी चलता रहा, जब उन्होंने कहीं भी आना-जाना बन्द कर दिया। जहाँ कोई जो भी मिला, गुरुदेव ने उसके प्रश्नों का बड़ी सहजता से समाधान कर दिया। कई बार तो पूछने

वाले ने संकोचवश प्रश्न पूछा भी नहीं, और गुरुदेव ने उसके सवाल का सही जवाब दे दिया। उनके प्रवचनों में यह बात रोज ही देखी जाती थी। उस समय जिस किसी व्यक्ति की जो भी जिज्ञासा, शंका या प्रश्न होते, गुरुदेव उसी का समाधान करते। उनके प्रवचनों में एक साथ अनेकों के समाधान का सिलसिला चलता रहता था।

किसी के पूछने पर वह हँस देते और कहते- अरे भाई! तुम सोचते हो, टटोलते हो, उलझते हो और मैं सब कुछ साफ-साफ देखता हूँ। मुझे तुम्हारा प्रश्न भी दिखाई देता है, उत्तर भी। मुझे तो तुम्हारे वे अजन्मे सवाल भी दिखाई देते हैं जो कल जन्म लेंगे। साथ ही वे समाधान भी नजर आते हैं, जिनकी तुम्हें कल जरूरत होगी। यह होती है—प्रमाण वृत्ति। इसके विकास का मतलब है सहज बोध की प्राप्ति। फिर उधार के विचारों की, किसी तरह के तर्कजाल की, बौद्धिक जोड़-तोड़ की कोई जरूरत नहीं। गुरुदेव कहते थे कि गायत्री महामंत्र की भावभरी साधना से मन की यह शक्ति अपने आप ही कुछ वर्षों में जाग जाती है। साथ ही इस शक्ति के जागरण में अवरोध उत्पन्न करने वाली शक्ति समूल नष्ट हो जाती है।

यह अवरोधक शक्ति मन की दूसरी वृत्ति है, जिसका नाम है विपर्यय। **विपर्यय** का मतलब है, मिथ्या ज्ञान। मिथ्या ज्ञान का मतलब है कि है कुछ, पर दिखता है कुछ। है रस्सी, पर नजर आ रहा है साँप। प्रायः जीवन में यह स्थिति बेहोशी भरे अंधकार के कारण पनपती है। जैसे शराबी, भँगेड़ी, नशा गाढ़ा होने पर कुछ अजीबोगरीब अनुभूतियाँ करते हैं। वैसे ही इन्द्रिय लालसाओं, मानसिक वासनाओं एवं कामनाओं के ज्वार में भी इस मिथ्या ज्ञान की बाढ़ आती है। सारी उम्र कभी न खत्म होने पर भटकन की पर्याय बन जाती है। ध्यान रहे इस विपर्यय की समाप्ति ही प्रमाण का जागरण है। योग साधकों को अपने प्रयासों की दिशा इसी प्रमाण वृत्ति के जागरण की ओर मोड़नी होगी। लालसाओं, वासनाओं एवं कामनाओं का नशा उतरते ही मन की विपर्यय का अवसान हो जाता है।

तीसरी वृत्ति **विकल्प** अथवा कल्पना है। यह मन की बड़ी अद्‌भुत शक्ति है। सामान्य जन इस शक्ति का दुरुपयोग करते हुए प्रायः ख्याली पुलाव पकाते रहते हैं। लेकिन जिन्हें इस शक्ति का थोड़ा-बहुत सदुपयोग करना आ जाता है, वे कवि या कलाकार बन जाते हैं। इस विकल्प वृत्ति का उत्कृष्ट उपयोग ही उनकी कला की उत्कृष्टता की पहचान बनता है। गुरुदेव कहते थे—विकल्प वृत्ति या कल्पना साधारण चीज नहीं है। यह योगियों, साधकों एवं मनस्वियों की चेतना शक्ति का माध्यम बनती है। इसके माध्यम से उनके प्राण प्रवाहित होते हैं। पश्चिम में एक मनोवैज्ञानिक हुए हैं- '**कुए**'। उसने अपने अनगिनत प्रयोगों से कल्पना शक्ति के चमत्कार को साबित कर दिखाया। उसने इस शक्ति का प्रयोग बड़े कठिन एवं जटिल रोगों से ग्रसित लोगों पर किया। अपने प्रयोगों में उसने इन रोगियों से कहा- 'तुम अपने मन में प्रगाढ़ कल्पना करो कि मैं स्वस्थ हो रहा हूँ। अपना हर पल-हर क्षण इसी कल्पना में बिताओ।' इस प्रयोग से कुए ने लाखों असाध्य रोगियों को ठीक किया।

अब तो पश्चिम में फेथ हीलिंग की एक समूची प्रक्रिया ही चल पड़ी है। यह और कुछ नहीं कल्पना शक्ति की प्रगाढ़ता से होने वाले परिणामों की चमत्कारी विधि है। इसकी महत्ता को न समझ करके हम इस बेशकीमती शक्ति का भारी दुरुपयोग करते हैं। परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे- कल्पना का सर्वश्रेष्ठ उपयोग शाश्वत् अनन्तता की अनुभूति में है। विश्व चिन्तन ने मनुष्य जाति को जो सर्वश्रेष्ठ कल्पनाएँ दी हैं, उनमें श्रेष्ठतम कल्पनाएँ उपनिषदों में है। इनमें से किसी एक को भी अपनाकर हम अपने जीवन को सार्थक कर सकते हैं। सोऽहम, अहं ब्रह्मास्मि जैसे श्रेष्ठतम महत्त्वाकांक्षाओं को जीवन में धारण कर कल्पना शक्ति की सहायता से उस परम तत्त्व की अनुभूति पायी जा सकती है।

मन की चौथी वृत्ति **निद्रा** है। निद्रा मन की अद्‌भुत जीवनदायिनी शक्ति है। चिकित्साशास्त्री हमें बताते हैं कि नैसर्गिक निद्रा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बहुत अनिवार्य है। वैसा इसका अध्यात्मिक पक्ष भी है। हालाँकि इससे विरले साधक ही परिचित हो पाते हैं। सामान्य लोग तो

नैसर्गिक निद्रा का भी आनन्द नहीं उठा पाते। क्योंकि निद्रा मन की समग्र निर्विषय अवस्था है। कोई क्रिया, कोई चेष्टा मन में नहीं है, ऐसी अवस्था। जिसमें मन को सम्पूर्ण विश्रान्ति है। यह बड़ी सुन्दर, सुमधुर एवं जीवनदायिनी अवस्था है। पर इसका लाभ कम ही लोग उठा पाते हैं। अधिकांश तो स्वप्नों के मकड़जाल में उलझते रहते हैं। वे निद्रा के आनन्दमय संगीत से हमेशा वंचित रहते हैं।

जबकि योग साधक **आचार्य शंकर** के शब्दों में 'निद्रा समाधिस्थितिः' का आनन्द उठाते हैं। क्योंकि मन की समग्र निर्विषय अवस्था में यदि जागरूक हुआ जा सके, तो समाधि फलित हो जाती है। सचमुच ही निद्रा में सब कुछ वैसा ही होता है, जैसा कि समाधि में होता है। बस, जागरूकता नहीं होती। आन्तरिक जागरूकता सध जाने पर भी शरीर सोया रहता है, मन विश्रान्ति में रहता है और आन्तरिक चेतना पूर्णतया जाग्रत् होती है। परम पूज्य गुरुदेव की निद्रा ऐसी ही होती थी। सामान्य साधक इसमें धीरे-धीरे उतर सकते हैं। इस भावदशा में उतरने पर निद्रा समाधि का आनन्दोल्लास बन जाती है।

मन की पाँचवी एवं अन्तिम वृत्ति है-**स्मृति**। इस शक्ति का भी जीवन में प्रायः दुरुपयोग ही होता है। यदि जो घटना जैसे घटी है, उसे ठीक तरह से याद रखकर उसकी सच्चाई को जाना जाय, तो एक अनूठी ध्यान साधना जन्म लेती है। पर हममे से प्रायः किसी के जीवन में ऐसा हो नहीं पाता। हमारा अपना जीवन, तो बस स्मृतियों का एक बड़ा गोदाम भर है। जिसमें अगणित स्मृतियाँ यूँ ही बेतरतीब पड़ी हुई हैं। कौन स्मृति कहाँ किस स्मृति में जा मिली है ? कोई ठिकाना नहीं है। स्मृतियों की यह गड़बड़ जब-तब हमारे सपनों में उलझती रहती है। ध्यान-साधना ही वह उपाय है, जिससे कि स्मृति को योग साधना का रूप दिया जा सकता है। **भगवान् बुद्ध** ने इसीलिए ध्यान को 'सम्यक् स्मृति' भी कहा है। इस साधना से अपने अतीत को, अपने विगत जन्मों को जानकर एक नए साधनामय जीवन की सृष्टि की जा सकती है।

आखिर कैसे मिले-सम्यक् ज्ञान?

पंच वृत्तियों का उल्लेख करने के उपरांत महर्षि पतञ्जलि इनमें पहली वृत्ति प्रमाण के बारे में सुस्पष्टता से समझाते हैं। वह कहते हैं-

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ १/७॥

अर्थात् सम्यक् ज्ञान अथवा प्रमाणवृत्ति के तीन स्त्रोत हैं: प्रत्यक्ष बोध,अनुमान और योग सिद्ध आप्त पुरुषों के वचन। यही वे तीन विधियाँ हैं, जिनके द्वारा योग साधक को ठीक-ठीक ज्ञान हो सकता है। इनमें पहली विधि **प्रत्यक्ष बोध** की है। यह सम्यक् ज्ञान का प्रथम स्त्रोत है। इसका मतलब है, आमने-सामने का साक्षात्कार। ज्ञाता और ज्ञेय के बीच किसी मध्यस्थ की जरूरत नहीं रहती। सत्य को समझाने-बतलाने के लिए किसी दुभाषिये की आवश्यकता नहीं रह जाती।

बात बिल्कुल साफ है,सरल और सीधी है। फिर भी अनेकों अड़चनें हैं—इसे समझने में। प्रायः योग सूत्र के भाष्यकारों, वार्तीककारों ने इस सीधी, सरल और साफ बात की बड़ी गलत व्याख्या की है। उन्होंने प्रत्यक्ष बोध को इन्द्रिय बोध की सँकरी सीमा में समेट दिया है। उदाहरण के लिए कई आचार्यों का कहना है कि प्रत्यक्ष वही है-जो आँखों के सामने है। लेकिन यह ठीक-ठीक आमने-सामने कहाँ हुआ? आँखें तो बीच में हैं ही। इसी तरह यदि कुछ सुना जाता है, तो कान माध्यम बनते हैं और ये आँखें या कान गलत खबर भी तो देख सकते हैं। इन्द्रिय बोध-सत्य बोध ही हो,यह कोई जरूरी तो नहीं । इन्द्रियों में थोड़ा सा भी दोष आ गया, तो सारी खबर गलत मिलती हैं। कुछ का कुछ दिखाई-सुनायी देने लगता है।

फिर प्रत्यक्ष बोध क्या है? इस सवाल के उत्तर में परम पूज्य गुरुदेव का चिंतन सूत्र कहता है '**चेतना प्रत्यक्ष।**' यानि कि हमारी चेतना बिना किसी इन्द्रिय माध्यम के सब कुछ साफ-साफ आमने-सामने देखे। गहरे

ध्यान अथवा समाधि की भाव दशा में ही साधक को यह स्थिति प्राप्त होती है। तब देखने के लिए, जानने के लिए किसी माध्यम की जरूरत नहीं रह जाती। किसी इन्द्रिय की तो बिल्कुल भी नहीं। महात्मा बुद्ध, महर्षि रमण, श्री अरविन्द एवं परम पूज्य गुरुदेव जैसे महायोगी इसी रीति से सत्ता और सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हैं। इससे इन्द्रियों की किसी तरह की कोई भागीदारी नहीं होती। ज्ञाता और ज्ञेय एकदम आमने-सामने होते हैं, उनके बीच कुछ और नहीं होता। केवल प्रत्यक्षता ही सत्य अनुभव बनकर प्रकट होता है।

परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि प्रत्यक्ष को चेतना-प्रत्यक्ष मानने से ही महर्षि पतञ्जलि जैसे महायोगी का भाव प्रकट होगा। यदि हम प्रत्यक्ष को केवल इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की सीमा में सिकोड़ दें, तो हम उन्हें **चार्वाक** जैसे नास्तिक एवं जड़वादी दार्शनिकों की श्रेणी में खड़ा कर देंगे। क्योंकि चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक **बृहस्पति** का प्रमुख मत यही तो है कि जो कुछ इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं, जो नजरों के सामने है-वही प्रमाण है। चार्वाक को भारतीय भौतिकवाद का स्रोत माना जाता है। इस दर्शन में बुद्धि चातुर्य तो है,पर चेतना का बोध नहीं है। चार्वाक कोरे बुद्धिवादी हैं, जबकि महर्षि पतञ्जलि सम्यक् बोध प्राप्त महायोगी हैं। उनके भाव को ठीक-ठीक समझने के लिए किसी महायोगी का बोध ही सहायक बन सकता है। परम पूज्य गुरुदेव हमें यही सहायता प्रदान करते हैं।

वह कहते हैं कि गहरे ध्यान अथवा समाधि में हमारी अर्न्तचेतना जिस ज्ञान की अनुभूति करती है,वही सत्य है। उसी को प्रमाण माना जा सकता है। इन्द्रियों से हमें जो जानकारी मिलती है,वह प्रायः आधी-अधूरी और दोषग्रस्त होती है। यही कारण है कि इन्द्रियाँ हमें भटकाती और भ्रमित करती हैं। काम-क्रोध,लोभ-मोह की दशाएँ इन्द्रियों को जब-तब आच्छादित करती है और परिणाम में व्यक्ति को कुछ का कुछ समझ में आने लगता है। कभी-कभी यही दशा नशेड़ी व्यक्ति की होती है। इस संबंध में गुरुदेव अपने गाँव के पास का किस्सा सुनाया करते थे। उनके

गाँव के पास के गाँव में एक **ठाकुर बच्ची सिंह** रहा करते थे। उनकी अफीम खाने की आदत थी। अफीम खाने के बाद वे नशे में काफी ऊट-पटांग, हरकतें करते थे। एक बार उन्होंने शाम को ज्यादा अफीम खा ली। नशा गहरा होने पर वे कहने लगे,देखो अब मेरे पास उड़ने की ताकत आ गयी है, अब मैं उड़ सकता हूँ। ऐसा कहते हुए वह अपने मकान की छत से हाथ फैलाए हुए उड़ने की मुद्रा में नीचे कूद पड़े। सिर पर गहरी चोट लगने से उनकी मृत्यु हो गयी। बेचारे वह जान भी नहीं सके कि नशे के असर में वह अपनी इन्द्रियों द्वारा धोखा खा गए।

इन्द्रियाँ भरोसे काबिल हैं भी नहीं। बिना नशे के वे हमें भटकाती और भ्रमित करती रहती हैं। जो बचपन में समझ में आया, वह किशोरावस्था में बेकार नजर आती है। किशोरावस्था की बातें प्रौढ़ावस्था में बेमानी हो जाती है। यही सिलसिला चलता रहता है। ऐसे में सवाल उठता है कि प्रत्यक्ष बोध आखिर है क्या? तो जवाब यह है कि प्रत्यक्ष बोध वह है, जिसे इन्द्रियों के बिना जाना जा सके। इसलिए पहला सम्यक् ज्ञान केवल अपनी आन्तरिक सत्ता का हो सकता है। क्योंकि इसके लिए किसी भी इन्द्रिय सहायता की जरूरत नहीं है। कोई भी गहरे ध्यान अथवा समाधि में उतरकर इसे पा सकता है।

प्रमाणवृत्ति अथवा सम्यक् ज्ञान का दूसरा स्रोत **अनुमान** है। यह उनके लिए है, जो अभी प्रत्यक्ष बोध के लायक नहीं हुए हैं। जिनकी स्थिति अभी ध्यान और समाधि की गहराई में प्रवेश करने की नहीं है। जो सम्यक् ज्ञान पाना चाहते हैं, अनुमान उनके लिए एक सम्भावना है। यह अनुमान क्या है? परम पूज्य गुरुदेव के शब्दों में यह है विवेक युक्त तर्क। तर्क के बारे में गुरुदेव का कहना था कि तर्क दुधारी तलवार की तरह है, इसके इस्तेमाल के लिए गहरे विवेक की जरूरत है। विवेक के अभाव में यह सत्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक बनने की बजाय असत्य ज्ञान का पोषक भी हो सकता है। उदाहरण के लिए तर्क का प्रयोग चार्वाक एवं मार्क्स ने भी किया और आचार्य शंकर एवं महर्षि अरविन्द ने भी। परन्तु

एक में विवेक का अभाव है, तो दूसरे में विवेक का प्रभाव। इस स्थिति में इनके दर्शन और दार्शनिकता का पूरा का पूरा ढाँचा बदल गया है।

पतञ्जलि का कहना है कि सम्यक् ज्ञान के लिए हमें सम्यक् तर्क करना आना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हम इस विराट् सृष्टि को देखें,गौर से निहारें और तर्क का सम्यक् प्रयोग करें, तो ईश्वर के अस्तित्व का अनुमान होता है। यह ठीक है कि ईश्वर की सत्ता इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है। ईश्वर कहीं दिखाई नहीं देता, नजर नहीं आता। किन्तु यदि सम्यक् तर्क का प्रयोग करें,यह सोचें कि विश्व ब्रह्माण्ड की व्यवस्था कितनी सुसंगत है,कितनी उद्देश्यपूर्ण है,तो इस निश्चय पर जरूर पहुँचेंगे कि ईश्वर के रूप में इसकी संचालक सत्ता का भी अस्तित्व होगा। इस तरह सम्यक् तर्क से ईश्वरीय सत्ता का बड़ा ही स्पष्ट अनुमान हो सकता है। बाद में योग साधना के द्वारा उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति भी पायी जा सकती है।

अब है सम्यक् ज्ञान का तीसरा स्रोत-**आगम**। यह सबसे अधिक सौन्दर्यपूर्ण है। आगम को सम्यक् ज्ञान के स्रोत के रूप में स्वीकारना महर्षि पतञ्जलि की अपनी विशिष्टता है। यह आगम क्या है ? तो महर्षि कहते हैं कि आगम महायोगियों के वचन हैं। ये ऋषियों की अनुभति की अभिव्यक्ति देने वाले शब्द है। इस बात को थोड़ा और स्पष्ट रीति से कहें, तो आगम-उन महान् विभूतियों के वचन हैं,जो जान चुके हैं। जो लक्ष्य तक पहुँच चुके हैं,जो कैवल्य ज्ञान को पा चुके हैं, जो ईश्वरीय सत्य का साक्षात्कार कर चुके हैं,उनके शब्द भी सम्यक् ज्ञान का स्रोत है।

परम्परा में आगम को वेद कहा जाता है। यह ठीक भी है क्योंकि वेद सत्य द्रष्टा ऋषियों के वचन है। परन्तु रूढ़ियों से ग्रस्त मूढ़ जन वेद के विराट् स्वरूप को केवल कतिपय मंत्र समुच्चय तक ही समेट देते हैं। यह ठीक नहीं है। आगम सत्य द्रष्टा ऋषियों के वचन है। भले ही संस्कृत में कहा गया हो,अथवा किसी अन्य भाषा में। व्यापक अर्थों में आगम में कबीर की साखी, मीरा के पद, श्रीरामकृष्ण का वचनामृत, महर्षि रमण के वचन, योगीराज अरविन्द का दिव्य जीवन संदेश और स्वयं परम पूज्य

गुरुदेव के स्वर सभी कुछ समाहित हो जाता है। इन सत्य द्रष्टा ऋषियों— संतों के वचनों पर श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान का स्रोत है। योगपथ पर चलने वाले साधकों के लिए सम्यक् ज्ञान का यह तीसरा स्रोत सबसे अधिक मत्त्वपूर्ण एवं व्यावहारिक है। योग साधना करने वालों के लिए यह भी कहा जा सकता है कि अपने सद्गुरु के वचनों पर परिपूर्ण श्रद्धा-सम्यक् ज्ञान का स्रोत है। सद्गुरु के वचन कभी-कभी बड़े अटपटे होते हैं। परन्तु वे प्रेम लपेटे होते हैं। उन्हें ठीक-ठीक समझ न पाने पर भी यदि कोई साधक उन पर समग्र श्रद्धा के साथ आचरण करने लगता है,तो उसे अपने आप ही सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

सद्गुरु के वचनों के सम्बन्ध में तर्क का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि ये चेतना के जिस तल से कहे गए हैं, वहाँ तर्क, बुद्धि की पहुँच ही नहीं है। यदि इस बारे में तर्क किया जाए, तो हम वह सब गवाँ बैठेंगे, जो हमें हमारे सद्गुरु देना चाहते हैं। क्योंकि वे न केवल यह जानते हैं कि उन्हें हम शिष्यों को क्या देना है ? बल्कि वे यह भी जानते हैं कि जो हमारे लिए देने योग्य है,वह सब किस तरह से देना है। इसलिए केवल और केवल भक्ति पूर्ण श्रद्धा ही एकमात्र उपाय है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि सद्गुरु जो कहें,जिस भी तरह कहें,उसे परिपूर्ण श्रद्धा के साथ करने पर सम्यक् ज्ञान सुनिश्चित है। इसमें कोई संदेह नहीं। प्रमाणवृत्ति के ये तीनों स्रोत हमारी अन्तर्यात्रा में सहायक है।

जानें, किस भ्रम में हैं हम

प्रमाण वृत्ति के तीनों स्रोतों से साक्षात्कार करने के उपरांत समधिपाद के आठवें सूत्र में महर्षि ने दूसरी वृत्ति का खुलासा किया है। वह कहते हैं-

विपर्ययो मिथ्या ज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठिम्॥ १/८॥

यानि कि विपर्यय एक मिथ्या ज्ञान है, जो विषय से उस तरह मेल नहीं खाती, जैसा वह है। शास्त्रकारों ने विपर्यय को असत् ज्ञान कहा है। यानि कि किसी वस्तु, व्यक्ति या विचार के बारे में झूठी धारणा है। इसे चित्त की भ्रमित स्थिति भी कह सकते हैं। मजे की बात यह है कि ऐसी स्थिति हममें से किसी एक की नहीं है, बल्कि प्राय: हम सबकी है। जीवन के किसी न किसी कोने में हम सभी भ्रमित हैं। सच यही है कि हम तथ्य को जाने, सत्य को अनुभव करें, उसके पहले ही उस विषय या वस्तु के बारे में 'अनगिन धारणाएँ' बना लेते हैं।

कई बार तो ये धारणाएँ पीढ़ी दर पीढ़ी चलती है। उस धारणा से सम्बन्धित असत् ज्ञान को जिस-किसी तरह निभाया जाता है। परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि व्यक्ति अकेला नहीं, परिवार और समाज भी असत् ज्ञान कि विपर्यय के भारी बोझ से लदे हैं। उसे ढोए जा रहे हैं। इस बारे में वह एक बड़ी रोचक कथा सुनाते थे। यह कथा प्रसंग एक ग्रामीण परिवार का था। इस परिवार में एक परम्परा थी कि शादी-विवाह के समय परिवार के लोग एक **बिल्ली** को पकड़कर एक टोकरी के नीचे ढक देते। शादी-विवाह का आयोजन चलता रहता। इसमें कई दिन बीत जाते। तब तक प्राय: बिल्ली मर जाती। बाद में उसे फेंक दिया जाता। ग्रामीण परिवार में यह प्रथा सालों से नहीं, पीढ़ियों से चल रही थी। कभी किसी ने इस प्रथा से जुड़ी धारणा के बारे में खोज-बीन करने की कोशिश नहीं की।

उस परिवार के लोगों का ध्यान ज्यादातर इस बात पर टिका रहता था कि घर में जब भी कोई शादी हो, तब एक बिल्ली को टोकरी के नीचे रख देना है। फिर जब सारा आयोजन समाप्त हो जाय, तो उस मरी हुई बिल्ली को कहीं फेंक देना है। परिवार की नयी पीढ़ी के लोग जिसने भी इस प्रथा के औचित्य को जानने की कोशिश की उसे झिड़क दिया गया। घर के बड़े-बूढ़ों ने उन्हें धमकाया, घर से बाहर निकाल देने की धमकी दी। और कहा कि बुजुर्गों की बातों पर सवाल उठाते हो? बस, इतना जान लो कि शादी के समय ऐसा करना शुभ होता है। बिल्ली को मार देने से भला शुभ का क्या सम्बन्ध है? इस सवाल का उत्तर किसी ने भी न दिया।

लेकिन परिवार के एक नवयुवक से रहा न गया। उसने बात की जड़ में जाने की ठान ली। उसने परिवार की पुरानी डायरियों को पलटा। गाँव के बड़े-बुजुर्गों से बात की। अंत में उसे सच्चाई का पता चला। सच्चाई यह थी कि सालों पहले पुरानी पीढ़ी में एक लड़की की शादी थी। सभी लोग शादी के काम में जुटे थे। घर में पालतू बिल्ली थी, जो इधर-उधर दौड़कर जब-तब चीज-सामानों को गिरा रही थी। गृहस्वामिनी उसके इस व्यवहार से परेशान हो गयी। अन्त में उसने उस बिल्ली को एक टोकरी के नीचे ढक दिया। काम-काज की व्यस्तता में वह उसे भूल गयी। शादी के बाद जब याद आयी, तो उसे टोकरी से निकाला, लेकिन तब तक बिल्ली मर चुकी थी। बड़े ही दुःखी मन से उसे बिल्ली को फेंकना पड़ा। इस सत्य ज्ञान को जानते ही असत् ज्ञान अपने आप ही खत्म हो गया। उस घर के लोगों को जब इस सच्चाई का पता चला, तो उन्हें अपनी गलती का अहसास हुआ।

गुरुदेव कहते थे समाज और परिवार परम्पराओं, रूढ़ियों के नाम पर ऐसे असत् ज्ञान का विपर्यय का बोझ ढोए जा रहे हैं। समाज ही क्यों व्यक्ति के रूप में हमारी अपनी जीवन शैली भी विपर्यय से घिरी है। अनगिनत मिथ्या धारणाएँ हमें घेरे हैं। इनके कारण हमारी जीवन ऊर्जा बरबाद हो रही है। रस्सी को साँप समझकर हम डरे हुए हैं। रेगिस्तान की

तपती रेत में पानी के भ्रम से भ्रमित होकर लोभ के कारण भाग रहे हैं। कहीं हमें भय सता रहा है, तो कहीं लोभ। जबकि दोनों ही औचित्यहीन हैं। मिथ्या धारणाओं से ग्रसित मन जो प्रक्षेपित करता है, उसी को सच समझ लेते हैं। हमारे पूर्वाग्रह, दुराग्रह से भरी हुई धारणाएँ हमारी जानने की शक्ति को ढके हुए हैं।

साधक वही है, जिसकी निगाहों में ताजगी हो। जो क्षण प्रतिक्षण मन-अन्त:करण पर जमने वाली धूल-मिट्टी को हटाता रहे। अतीत के हर पल को मिटने दे और सच्चा सत्यान्वेषी हो। परम पूज्य गुरुदेव के अनुसार विपर्यय है तो मिथ्या ज्ञान। सामान्यतया इसे साधना के लिए बाधा ही समझा जाता है। पर यदि साधक समझदार हो, तो इसे भी अपनी साधना बना सकता है। भ्रम में समझदारी पैदा हो जाय। भ्रमित करने वाली वस्तु, विषय या विचार के प्रति जागृति हो जाय, तो भ्रम अपने आप ही टूट जाते हैं।

साधकों ने यदि गुरुदेव की पुस्तक **'मैं क्या हूँ ?'** पढ़ी होगी, तो इस तत्त्व को और गहराई से समझ सकते हैं। यदि किसी ने यह पुस्तक अब तक न पढ़ी हो, तो उसे अवश्य पढ़ना चाहिए। क्योंकि प्रकारान्तर से इसमें विपर्यय को साधना विधि बनाने की तकनीक है। और वह साधनाविधि विपर्यय के प्रति सचेत होना, जागरूक होना। उसे परत-दर-परत उद्घाटित करना मैं क्या हूँ ? इस गहन जिज्ञासा के साथ ही विपर्यय की परतें उघड़ने लगती हैं। इस क्रम में पहले अपने को देह मानने का असत् ज्ञान टूटता है। फिर टूटता है अपने को प्राण मानने का परिचय। इसके बाद मन की मान्यता समाप्त होती है। फिर बुद्धि का तर्कजाल भी समाप्त होता है। अन्त में निदिध्यासन का यह क्रम भाव समाधि का स्वरूप लेता है और पता चलता है- आत्मा का परिचय। होता 'अयमात्मा ब्रह्म' का प्रगाढ़ बोध। जीवन के सारे विपर्यय समाप्त होते हैं। असत् का अँधेरा मिटकर सत् का प्रकाश होता है।

यह सब होता है विपर्यय के सत्य और तत्त्व को सही तरह से जानने पर। क्षण-प्रतिक्षण अपने ऊपर से मिथ्या धारणाओं के आवरण को हटाने

पर। इस तरह क्लिष्ट कही जाने वाली विपर्यय वृत्ति भी अक्लिष्ट हो सकती है। बस इसके लिए साधकों में समझदारी भरी साधना होना चाहिए। उन्हें बस अपने जीवन शैली और जीवन तत्त्व दोनों ही आयामों में छाई हुई विपर्यय घटाओं के प्रति जागरूक होना पड़ेगा। तो आज और अभी से प्रारम्भ करें अपनी यह जागरूकता की ध्यान साधना।

कल्पना में भी है अक्षय ऊर्जा का भंडार

जीवन जागृति का संदेश देने के पश्चात् समाधिपाद के नवें सूत्र में योग सूत्रकार महर्षि तीसरी वृत्ति का खुलासा करते हुए कहते हैं-

शब्द ज्ञानानुयाती वस्तु शून्यो विकल्पः॥ १/९॥

अर्थात् शब्दों के जोड़ से हर एक का परिचय है। हम सभी अपने जीवन के क्षणों को कल्पनाओं से सँवारते रहते हैं। कई बार ये कल्पनाएँ हमारे अतीत से जुड़ी होती हैं और कई बार हम इन कल्पनाओं के धागों से अपने भविष्य का ताना-बाना बुनते हैं। हम में से बहुसंख्यक कल्पना करने के इतने आदी हो चुके हैं कि मन ठहरने का नाम ही नहीं लेता। किसी भी कार्य से उबरते ही कल्पनाओं के हिडोंले में झूलने लगता है। भाँति-भाँति की कल्पनाएँ, रंग-बिरंगी और बहुरंगी कल्पनाएँ, कभी-कभी तो विद्रूप और भयावह कल्पनाएँ चाहे-अनचाहे हमारे मन को घेरे रहती हैं। कभी हम इनकी सम्मोहकता में खो जाते हैं, तो कभी इनकी भयावहता के समक्ष हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। स्थिति यहाँ तक है कि कल्पना रस हमारा जीवन रस बन चुका है।

कल्पना रस में डूबे और विभोर रहने के बावजूद हमने इसे ठीक तरह से पहचाना नहीं है। परम पूज्य गुरुदेव इस सम्बन्ध में कहा करते थे- कल्पनाएँ सदा ही कोरी और खोखली नहीं होती, इन्हें ऊर्जा व शक्ति के स्रोत के रूप में भी अनुभव किया जा सकता है। जो योगी ऐसा कर पाते हैं, वे ही सही ढंग से मन की **विकल्प वृत्ति का सदुपयोग** करना जानते हैं। कैसे किया जाय यह **सदुपयोग**? इस प्रश्न का पहला बिन्दु है कि कल्पना में निहित शक्ति को उसकी **सम्भावनाओं को पहचानिये**। यह समस्त सृष्टि ब्रह्म की कल्पना ही तो है, हम सब उसके सनातन अंश हैं। ऐसी स्थिति में हमारी कल्पनाओं में भी सम्भावनाओं के अनन्त बीज छुपे हैं।

कल्पना में समायी शक्ति की सम्भावनाओं पर विश्वास करने के बाद दूसरा बिन्दु है-**कल्पनाओं की दिशा**। गुरुदेव का कहना था हमें सदा ही विधेयात्मक कल्पनाएँ करनी चाहिए, क्योंकि निषेधात्मक कल्पनाएँ हमारी अन्त:ऊर्जा को नष्ट करती हैं, जबकि विधेयात्मक कल्पनाएँ हमारे अन्त:करण को विशद् ब्रह्माण्ड की ऊर्जा धाराओं से जोड़ती हैं। उसे ऊर्जावान् और शक्तिसम्पन्न बनाती है। इस तकनीक का तीसरा बिन्दु है - कल्पनाओं को अपनी अभिरुचि के अनुसार अन्त: भावनाओं अथवा **विवेकपूर्ण विचार से जोड़ना**। इस प्रक्रिया के परिणाम बड़े ही सुखद और आश्चर्यजनक होते हैं। अन्त: भावनाओं से संयुक्त होकर कल्पना कला को जन्म देती है, जबकि विवेकपूर्ण विचार से जुड़कर कल्पना शोध की सृष्टि करती है।

काव्य कला सहित विश्व-वसुधा की समस्त कलाएँ प्राय: इसी रीति से जन्मी, पनपी एवं विकसित हुई हैं। विश्व को चमत्कृत कर देने वाली शोध सृष्टि भी कल्पनाओं के तर्कपूर्ण विवेकयुक्त विचार से सम्बद्ध होने से हुई है। अन्त: भावनाओं एवं तर्कपूर्ण विचार से कल्पना के जुड़ने से इन दोनों के अलावा एक अन्य सुखद परिणति भी होती है और वह परिणति है- जीवन जीने की कला का विकास। जीवन में एक अपूर्व कलात्मकता,लयबद्धता का सुखद् जन्म। इस सत्य से प्राय: बहुत कम लोग परिचित हो पाते हैं, लेकिन जो परिचित हो जाते हैं-उनका जीवन सुमधुर काव्य की भाँति सुरीला, संगीत की तरह लययुक्त एवं नवीन शोध की भाँति आश्चर्यजनक उपलब्धियों का भण्डार हो जाता है।

उचित कल्पना का संस्पर्श पाकर जीवन बड़े ही आश्चर्य रीति से बदल जाता है। यह बदलाव ऐसा होता है, जैसे कि पारस लोहे के काले-कलूटे टुकड़े का छूकर सुगन्धित स्वर्ण बना दिया हो। कहानी **एमिली जेन** की है, जो पहले अपने बचपन में कूड़ा-करकट बीनती थी और बाद में विश्व विख्यात अभिनेत्री बन गयी। उसकी जीवन कथा-'**वन्डर ऑप वर्ड्स**' के लेखक **जेम्स एलविन** का कहना है कि एमिली जब छोटी थी

एक दिन वह कूड़ा-करकट से कुछ बीन रही थी। बीनती-बीनती वह थक गयी। साथ कुछ लड़के-लड़कियाँ और भी थे। मनोरंजन के लिए सब मिलकर नाचने लगे। तभी वहाँ से **अनविन रोजर्ट** का गुजरना हुआ।

रोजर्ट ने बच्चों के बीच नृत्य करती हुई एमिली को देखा। उसे संकेत से पास बुलाया और धीरे से कहा—प्यारी बच्ची! तुम अद्वितीय हो, सौंदर्य और कला का अपूर्व मिश्रण तुममें है। तुम चाहो तो क्या नहीं कर सकती? सचमुच ही मैं कुछ भी कर सकती हूँ? एमिली ने पूछा। हाँ, तुम कुछ भी कर सकती हो। इस एक कल्पना ने अन्तः भावनाओं एवं तर्कपूर्ण, विवेक-युक्त विचारों से मिलकर एमिली को नया जन्म दिया, वह एमिली जो कला की देवी मानी जाने लगी। तभी तो परम पूज्य गुरुदेव कहते थे- कल्पना को ख्याली पुलाव मत बनाओ। उसे अपनी शक्ति समझो। अपना ऊर्जा स्रोत बनाओ।

कल्पनाओं को यूँ भटकने देना, यूँ ही बहकने देना और उस बहाव में स्वयं भी भटकने व बहने लगना न केवल कल्पना शक्ति की बर्बादी है, बल्कि इससे जीवन भी बर्बाद होता है। ऐसे में विकल्प की यह वृत्ति क्लेश उत्पादक बन जाती है। लेकिन इसका सदुपयोग होने से यह क्लेश निवारक बन जाती है। बस, सब कुछ हम साधकों पर है कि उसे अपनी साधना का साधक तत्त्व बनाते हैं या फिर उसे बाधक बने रहने देते हैं। हमारी योग साधना के खरे होने की कसौटी इसे अपनी साधना का साधक तत्त्व बनाने में है। इस विकल्प वृत्ति की साधना यदि बहिर्मुखी हो तो हमें सांसारिक उपलब्धियों के वरदान देती है और यदि इसे अन्तर्मुखी करलें, कल्पना हमारी धारणा का स्वरूप ले ले, तो हमें यौगिक विभूतियों के वरदान देती है।

नींद, जब आप होते हैं-केवल आप

सम्भावनाएँ केवल विभु में ही नहीं, अणु में भी है। पर्वत में ही नहीं, राई में भी बहुत कुछ समाया है। जिन्हें हम तुच्छ समझ लेते हैं, क्षुद्र कहकर उपेक्षित कर देते हैं, उनमें भी न जाने कितना कुछ ऐसा है, जो बेशकीमती है। जागरण के महत्त्व से तो सभी परिचित हैं। महर्षि कहते हैं कि निद्रा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चौथी वृत्ति के रूप में इसके स्वरूप और सत्य को समाधिपाद के दसवें सूत्र में उद्घाटित करते हैं-

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १/१०॥

शब्दार्थ-अभाव-प्रत्यय-आलम्बना= अभाव की प्रतीति को आश्रय करने वाली; **वृत्तिः** =वृत्ति; **निद्रा**=निद्रा है।

अर्थात् मन की यह वृत्ति, जो अपने में किसी विषय वस्तु की अनुपस्थिति पर आधारित होती है-निद्रा है। यही निद्रा ही सार्थक और यथार्थ परिभाषा है। नींद के अलावा हर समय मन अनेकों विषय वस्तुओं से भरा रहता है। भारी भीड़ होती है मन में। विचारों की रेल-पेल, अन्तर्द्वन्द्वों की धक्का-मुक्की क्षण-प्रतिक्षण हलचल मचाए रहती है। कभी कोई आकांक्षा अंकुरित होती है, तो कभी कोई स्मृति मन के पटल पर अपना रेखा चित्र खींचती है, यदा-कदा कोई भावी कल्पना अपनी बहुरंगी छटा बिखेरती है। हमेशा ही कुछ न कुछ चलता रहता है। यह सब क्षमता तभी होती है, जब सोये होते हैं गाढ़ी नींद में। मन का स्वरूप और व्यापार मिट जाता है, केवल होते हैंआप—बिना किसी उपाधि और व्याधि के।

परम पूज्य गुरुदेव कहते थे-नींद के क्षण बड़े असाधारण और आश्चर्य जनक होते हैं। कोई इन्हें समझ ले और सम्हाल ले, तो बहुत कुछ पाया जा सकता है। ऐसा होने पर साधकों के लिए यह योगनिद्रा बन जाती है, जबकि सिद्धजन इसे समाधि में रूपान्तरित कर लेते हैं। दिन के जागरण

में जितनी गहरी साधनाएँ होती हैं, उससे कहीं अधिक गहरी और प्रभावोत्पादक साधनाएँ रात्रि की नींद में हो सकती है। वैदिक संहिताओं में अनेकों प्रकरण ऐसे हैं, ज़िनसे गुरुदेव के वचनों का महत्त्व प्रकट होता है।

ऋग्वेद के रात्रि सूक्त में **कुशिक-सौभर** व **भारद्वाज ऋषि** ने रात्रि की महिमा का बड़ा ही तत्त्वचिंतन पूर्ण गायन किया है। इस सूक्त के आठ मंत्र निद्रा को अपनी साधना बनाने वाले साधकों के लिए नित्य मननीय है। इनमें से छठवें मंत्र में ऋषि कहते हैं-**'यावयावृक्यं वृकं यवय स्तेनभूर्म्ये। अथा नः सुतरा भव'**॥ ६॥ 'हे रात्रिमयी चित्शक्ति! तुम कृपा करके वासनामयी वृकी तथा पापमय वृक को अलग करो। काम आदि तस्कर समुदाय को भी दूर हटाओ। तदन्तर हमारे लिए सुख पूर्वक तरने योग्य बन जाओ। मोक्षदायिनी एवं कल्याणकारिणी बन जाओ।'

ये स्वर हैं उन महासाधकों के, जो निद्रा को अपनी साधना बनाने के लिए साहस पूर्ण कदम बढ़ाते हैं। वे जड़ता पूर्ण तमस् और वासनाओं के रजस् को शुद्ध सत्त्व में रूपान्तरित करते हैं। और निद्रा को आलस्य और विलास की शक्ति के रूप में नहीं, जगन्माता भगवती आदि शक्ति के रूप में अपना प्रणाम निवेदित करते हुए कहते हैं-

या देवी सर्वभूतेषु निद्रा रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

देवी सप्तसती ५/२३-२५

जो महा देवी सब प्राणियों में निद्रा रूप में स्थित हैं, उनको नमस्कार, उनको नमस्कार उनको बारम्बार नमस्कार है।

महायोगी आचार्य शंकर अपने अप्रतिम साधना ग्रन्थ **योगतारावली** में इसकी समूची साधना विधि को बड़े ही संक्षेप में वर्णित करते हैं-

विच्छिन्न संकल्प विकल्प मूले
निःशेष निर्मूलित कर्मजाले।
निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा सा
जृम्भते योगिनी योग निद्रा॥

विश्रांतिमासाद्य तुरीय तल्पे
विश्वाद्यावस्था त्रितयोपरिस्थे।
संविन्मयीं कामपि सर्वकालं
निद्रां भज निर्विश निर्विकल्पम्॥

-योगतारावली २५-२६

निरन्तर अभ्यास के फल स्वरूप मन के संकल्प-विकल्प शून्य तथा कर्मबन्धन के क्षय हो जाने पर योगी जनों में योग निद्रा का आविर्भाव होता है।

त्रिकालातीत विश्व की आद्यावस्था तुरीयवस्था में सर्वकालबादिनी संवित्-स्वरूपिणी निद्रा प्रकाशित होती है, जहाँ योगी विश्रान्ति प्राप्त कर विचरण करते हैं। अत: निर्विकल्प स्वरूपिणी उसी निद्रा की आराधना करो।

यह आराधना कैसे हो? इस सवाल के जवाब में परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि सोना भी एक कला है। सोते तो प्राय: सभी मनुष्य हैं, परन्तु सही कला बहुत कम लोगों को पता है। इसी वजह से वे सही ढंग से आराम भी नहीं कर पाते। ज्यादातर लोग जिन्दगी की चिंताओं और तनावों का बोझ लिए बिस्तर पर जाते हैं और अपनी परेशानियों की उधेड़बुन में लगे रहते हैं। बिस्तर पर पड़े हुए सोचते-सोचते थक जाते हैं और अर्द्धचेतन अवस्था में सो जाते हैं। इसी वजह से वे सही ढंग से आराम भी नहीं कर पाते। उन्हें खुद भी पता नहीं लगता कि हम सोच रहे हैं या सोने जा रहे हैं। इसी वजह से नींद में मानसिक उलझनें, विभिन्न दृश्यों तथा रूपों में स्वप्न बनकर उभरती है। इस तरह भले ही शरीर कुछ भी नहीं करता हो, फिर भी मानसिक तनावों के कारण शारीरिक थकान दूर नहीं हो पाती। इस स्थिति से उबरने के लिए जरूरी है कि जब हम सोने के लिए बिस्तर में जायें, तो हमारी शारीरिक एवं मानसिक दशा वैसी ही हो, जैसी कि उपासना के आसन पर बैठते समय होती है। यानि कि हाथ-पाँव धोकर पवित्र भावदशा में बिछौने पर लेटे। आराम से लेटकर गायत्री महामंत्र का मन ही मन उच्चारण करते हुए कम से कम दस बार गहरी

श्वाँस लें। फिर मन ही मन अपने गुरु अथवा ईष्ट की छवि को सम्पूर्ण प्रगाढ़ता से चिंतन करें। अपने मन को धीरे-धीरे, किन्तु सम्पूर्ण संकल्प के साथ सद्गुरुदेव अथवा ईष्ट की छवि से भर दें। साथ ही भाव यह रहे कि अपनी सम्पूर्ण चेतना, प्रत्येक वृत्ति गुरुदेव में विलीन हो रही है। यहाँ तक कि समूचा अस्तित्व गुरुदेव में खो रहा है। सोचते समय मन को भटकने न दे। मन जब जहाँ जिधर भटके, उसे सद्गुरु की छवि पर ला टिकाएँ। इस तरह अभ्यास करते हुए सो जाएँ।

इस अभ्यास के परिणाम दो चरणों में प्रकट होंगे। इसमें से पहले चरण में आपके स्वप्न बदलेंगे। स्वप्नों के झरोखे से आपको गुरुवर की झाँकी मिलेगी। उनके संदेश आपके अन्तःकरण में उतरेंगे। इसके दूसरे चरण में योग निद्रा की स्थिति बनेगी। क्योंकि अभ्यास की जागरूक अवस्था में जब आप नींद में प्रवेश करेंगे, तो यह जागरूकता नींद में भी रहेगी। आप एक ऐसी निद्रा का अनुभव करेंगे, जिसमें शरीर तो पूरी तरह से विश्राम की अवस्था में होगा, पर मन पूरी तरह से जागरूक बना रहेगा। यही योग निद्रा है। जिसकी उच्चतर अनुभूति समाधि का सुख देती है। इस भावदशा की अनुभूति आप भी अभ्यास की प्रगाढ़ता में कर सकते हैं, बस जरा जाग तो जाएँ।

जो यादों का धुँधलका साफ हो जाए

जो जग गया, उसमें साधना के लिए तीव्र लगन और गहरा समर्पण उपजेगा ही, वही इस योगकथा के सत्य को समझने के लिए सुपात्र भी हैं। महर्षि पतंजलि केवल सुपात्रों और सत्पात्रों को ही जिन्दगी के रहस्य एवं विभूतियाँ सौंपने के इच्छुक हैं। जो सत्पात्र नहीं है, जिनकी साधना नियमित और सघन नहीं है, वे इस अन्तर्यात्रा विज्ञान के शब्दों कों तो हथिया सकते हैं, पर इनका सत्य उनसे सदा दूर रहेगा। एक महान् वैज्ञानिक की भाँति महर्षि पतंजलि ने अपने अन्तर्यात्रा विज्ञान में ऐसी व्यवस्था कर रखी है। जो अनाधिकारी हैं, वे सदा वंचित रहेंगे। अन्तर्यात्रा विज्ञान का सत्य एक ही है, अधिकारी बनें और प्राप्त करें।

यह योगकथा आपको श्रेष्ठतम अधिकारी बनाने के लिए ही है। अपने जीवन को रूपान्तरित करके आप वह पा सकते हैं, जो महर्षि पतंजलि आपको सौंपने के लिए इच्छुक हैं, परम पूज्य गुरुदेव ने जिसे खास आपको देने के लिए सम्हाल कर रखा हुआ है। महर्षि कहते हैं कि वृत्तियों के फेर में हमारा जीवन भले ही कितना ही क्लिष्ट क्यों न हो, पर यह योग विधि से अक्लिष्ट या सुखकर हो सकता है। इसी क्रम में महर्षि पाँचवी और अन्तिम वृत्ति के रहस्य को उजागर करते हैं :-

अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः॥ १/११॥

शब्दार्थ- अनुभूत= अनुभव किए हुए, जाने हुए; **विषय**= (किसी) विषय का; **असम्प्रमोषः** = जो खोया हुआ न हो- यानि कि चित्त में संग्रहित हो, उसका ज्ञान होना; **स्मृतिः**= स्मृति है। संक्षेप में, किन्तु स्पष्ट स्वरों में- स्मृति पिछले अनुभवों को स्मरण करना है।

मन की इस पाँचवी वृत्ति के रूप में स्मृति की शक्ति का थोड़ा-बहुत अनुभव हममें से प्रायः सभी को है। बच्चों से लेकर वृद्धजनों तक सभी

अपनी-अपनी स्मृति का उपयोग करते रहते हैं। विद्यार्थियों के लिए तो यह स्मृति क्षमता वरदान ही है। इसी आधार पर उन्हें श्रेष्ठता का गौरव मिलता है। स्मृति के निरन्तर और अविराम उपयोग के बावजूद इसके गहन रहस्यों के बारे में बहुसंख्यक जन अनजान ही हैं। ज्यादातर लोगों के लिए तो बस यह स्मृति कभी दुःख देती है, तो कभी सुख। कभी वे इस वृत्ति के क्लिष्ट रूप का अनुभव करते हैं, तो कभी अक्लिष्ट रूप का अहसास करते हैं। यादों के झोंके कभी तो उन्हें रुला जाते हैं, तो कभी अचानक इनका स्पर्श उन्हें हँसा देता है। स्मृति के इन्हीं रूपों एवं पर्यायों से हम परिचित हैं। पर क्या सत्य इतना ही है?

इस महाप्रश्न का उत्तर हमारी अपनी अन्तश्चेतना की गहराइयों में है। जिसकी अनुभूतियों से हम अभी तक अछूते हैं। सामान्य क्रम में हम स्मृति का अर्थ वही यादें समझते हैं, जो बचपन से लेकर अब तक हमारे साथ जुड़ी हैं। लेकिन यादों का यह क्रम यहीं तक सीमित तो नहीं है। इसके दायरे में वह सब भी है, जो इस जीवन के पार और परे है। इसमें वे अनुभव भी आते हैं, जो हमें विगत जन्मों में भी हुए हैं। उनकी यादें भी तो हमारे अपने ही चित्त में संग्रहीत है। भले ही काल क्रम में ये थोड़ा धुँधली पड़ गयी हों। इन्हें पार करते हुए यदि हम अपने अस्तित्व के केन्द्र में झाँके, तो एक मूल्यवान् स्मृति और भी है- और वह हमारे अपने ही स्वरूप का अनुभव। हमारा वह स्वरूप जिसके लिए बाबा तुलसीदास ने कहा है- **'ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥'** इस मौलिक अनुभव की स्मृति तो जैसे एकदम ही लुप्त हो गयी है। इस स्मृति पर न जाने कितनी स्मृतियों ने धुँधले आवरण डाल दिए हैं।

लेकिन यह हुआ कैसे? गीता माता कहती है कि इसकी एक लम्बी कड़ी है। **'संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद् भवति संमोहः, सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः॥'** यानि कि विषयों के संग से उनकी कामना, फिर कामना से क्रोध, फिर क्रोध से सम्मोह और इस सम्मोह से स्मृति भ्रम। यह क्रम यहीं नहीं खत्म होता। आगे की कड़ियाँ

और भी हैं- **'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'** अर्थात्- स्मृति भ्रंश से बुद्धि का नाश और बुद्धि के नाश से स्वयं का नाश। आज के इन क्षणों में हमारी अपनी क्या दशा है ? यह हम बड़ी अच्छी तरह से जान सकते हैं।

इस स्थिति से उबरने का उपाय क्या है ? इस सवाल के जवाब में परम पूज्य गुरुदेव कहते हैं- उपाय एक ही है- उलटे को उलटकर सीधा करना। अर्थात् आत्मनाश की स्थिति से बचने के लिए पहले हमें आत्मउद्धार का संकल्प लेना होगा। फिर बुद्धिनाश की स्थिति को उलटने के लिए महाप्रज्ञा माता गायत्री का आँचल थामना होगा। वही हमारी बुद्धि को सन्मार्ग पर ले जा सकती है। इसके पश्चात् स्मृति विभ्रम दूर होना शुरू होता है। यानि कि तब हमें गायत्री साधना के बीच में अपने स्वरूप की हल्की झलकियाँ मिलती हैं। लेकिन सम्मोह का जाल अभी भी बना रहता है। यह तब टूटता है, जब क्लिष्ट स्मृति यानि जीवन के ईर्ष्या, द्वेष, वैरभाव या विषयानुभूति की यादों को अपने पास न फटकने दें। इनके स्थान पर याद करें-सत्पुरुषों के संग को, अपने सद्गुरु के संग और उनके वचनों को। इससे न केवल सम्मोह नष्ट होता है, बल्कि क्रोध भी नष्ट होता है। विषयों की कामना भी जाती रहती है। फिर उनके संग की चाहत भी नहीं पैदा होती।

उलटे को उलटकर सीधा करने का पूरा क्रम यही है। यह क्रम पूर्ण होते ही अन्तश्चेतना में शुद्ध सत्त्व का उदय होता है। इस शुद्ध सत्त्व का परिणाम है-**ध्रुवा स्मृतिः** अर्थात् अपने और परम चेतना के शाश्वत सम्बन्धों की दृढ़ भावानुभूति। इस सत्य को प्रकट करते हुए उपनिषदों का कथन है- **'शुद्ध सत्त्व ध्रुवाःस्मृतिः'** स्मृति की साधना का सार यही है कि हम ईर्ष्या, वैरभाव, विषयभोगों से जुड़ी हुई यादों को हटाकर-भगाकर बार-बार अपनी आत्मचेतना को पवित्र करने वाली यादों को दुहराएँ।

सन्तों ने इसी को सुमिरन कहा है। सुमिरन यानि की प्रभु की याद, अपने आत्मस्वरूप का बार-बार चिन्तन। यही स्मृति का सार्थक उपयोग

है। मानव चेतना के रहस्य इसी से उजागर होते हैं। अपने स्मृति विभ्रम के कारण हम भूल चुके हैं कि आखिर हम कौन हैं ? हमारा अपना ही परिचय हमसे खो गया है। स्वयं की याद का ही विलोप हो गया है। हाँ, दूसरों की भली-बुरी न जाने कितनी ही यादों को हम ढोते फिरते हैं। मर्म को छूती परम पूज्य गुरुदेव की पुस्तक - **'मैं कौन हूँ ?'** में उन सभी विधियों का समावेश है- जिससे हम अपनी खोयी स्मृतियों को पा सकते हैं। इसके साधना सूत्र बड़े ही प्रभावकारी हैं। स्मृति के रहस्य के जिज्ञासु साधकों के लिए यह पुस्तक नित्य पठनीय है। ध्यान रहे- हमारे दैनिक जीवन के सारे दु:खों के मूल में एक मात्र सत्य यही है कि हमने अपनी स्मृति को कष्टकारक बना लिया है। स्थिति को उलटने के लिए हमें इसे ही सुखकारक बनाना होगा। तभी योग की असल मंजिल की तरफ कदम बढ़ते रह सकते हैं।

कहीं पाँव रोक न लें सिद्धियाँ

योगकथा की प्रत्येक पंक्ति अनुभूति रस में सनी-लिपटी एवं रची-बसी है। यह आमंत्रण है उनके लिए, जो अन्तर्यात्रा विज्ञान को समझना चाहते हैं। साथ ही स्वयं भी अन्तर्यात्रा करने की चाहत रखते हैं। जिनकी चाहत सच्ची है, जिनमें मात्र कौतुक-कौतुहल नहीं आन्तरिक जिज्ञासा है, उनसे कहा जा रहा है कि अब यूँ ही सिकुड़े-सहमे-ठिठके खड़े न रहें, आगे बढ़ें, अपने कदमों में गति लायें। जो बताया जा रहा है, उसे समझें ही नहीं, करें भी और योग विभूतियों के अधिकारी बनें।

योग साधना के मार्ग पर कदम बाधाएँ रोकें, यह जरूरी नहीं। बाहरी बाधाएँ तो अक्सर साधक के आगे बेबस हो जाती हैं, पर इस मार्ग पर मिलने वाली शक्तियाँ, सिद्धियाँ और विभूतियाँ जरूर साधक को चुनौतियाँ देती हैं। ध्यान रखना होगा कि इनका मिलना छोटा-मोटा तमाशा भर है। महर्षि पतञ्जलि चेतावनी देते हैं कि इन शक्तियों को अर्जित करना, सिद्धियों को पाना और विभूतियों के अधिकारी बनना सच्चे साधक का उद्देश्य नहीं है। साधक तो इन्हें उपेक्षा भरी दृष्टि से देखकर आगे अपनी मञ्जिल की ओर बढ़ जाता है।

परम पूज्य गुरुदेव ने ऐसे तमाशों से योग साधकों को सावधान करते हुए गायत्री महाविज्ञान में लिखा है - 'कोई ऐसा अद्भुत कार्य करके दिखाना, जिससे लोग यह समझ लें कि यह सिद्धपुरुष है, गायत्री उपासकों के लिए कड़ाई से वर्जित है। यदि वे इस चक्कर में पड़ें, तो निश्चित रूप से कुछ ही दिनों में उनकी शक्ति का स्रोत सूख जायेगा और छूँछ बनकर अपनी कष्ट साध्य आध्यात्मिक कमाई से हाथ धो बैठेंगे। उनके लिए संसार को सद्ज्ञान दान कार्य ही इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसी के द्वारा वे जनसाधारण के आन्तरिक, बाह्य और सामाजिक कष्टों को भलीभाँति दूर

कर सकते हैं और स्वल्प साधनों से ही स्वर्गीय सुखों का आस्वादन कराते हुए लोगों के जीवन को सफल बना सकते हैं। इस दिशा में कार्य करने से उनकी आध्यात्मिक शक्ति भी बढ़ेगी। इसके प्रतिकूल यदि वे चमत्कार के प्रदर्शन के चक्कर में पड़ेंगे, तो लोगों का क्षणिक कौतूहल, अपने प्रति उनका आकर्षण थोड़े समय के लिए भले ही बढ़ा लें, पर वस्तुतः अपनी और दूसरों की इस प्रकार भारी कुसेवा होनी सम्भव है।

इन सब बातों का ध्यान रखते हुए हम कड़े शब्दों में आदेश देते हैं कि योग साधक अपनी सिद्धियों को गुप्त रखें, किसी के सामने प्रकट न करें। जो दैवी चमत्कार अपने को दिखाई दें, उन्हें किसी से न कहें। गायत्री साधकों की यह जिम्मेदारी है कि वे प्राप्त शक्ति का रत्ती भर भी दुरुपयोग न करें। हम सावधान करते हैं कि कोई भी साधक इस मर्यादा का उल्लंघन न करे।' परम पूज्य गुरुदेव के इस आदेश में सद्गुरु का अपने शिष्यों के लिए मार्गदर्शन एवं पथप्रदर्शन निहित है। महायोगी महर्षि पतञ्जलि हों या महान् योगसिद्ध परम पूज्य गुरुदेव दोनों ने ही योग साधकों को मन और उसकी वृत्तियों के खतरे से सावधान किया है। साधक को भटकाने वाला दूसरा कोई नहीं, उसका अपना मन और मन की वृत्तियाँ हैं। इनके निग्रह और निरोध से ही योग सधता है। पर यह सम्भव कैसे हो? योग सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि अगले सूत्र में इसका समाधान करते हैं।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १/१२॥

शब्दार्थ-अभ्यास-वैराग्याभ्यां=अभ्यास और वैराग्य से; तन्-**निरोधः**=उनका (वृत्तियों का) निरोध होता है। यानि कि अभ्यास और वैराग्य से इन वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

मन के पार जाना, मन की वृत्तियों के चक्रव्यूह से उबरना है, तो उपाय दो ही है-अभ्यास और वैराग्य। जिस योग साधक के जीवन में ये दोनों तत्त्व हैं, उसकी सफलता निश्चित है। इनमें से एक का अभाव योग साधक को असफल बनाये बिना नहीं रहता। यदि अभ्यास है, पर वैराग्य नहीं है, तो जो भी साधना की जाती है, जो भी योग-ऊर्जा अवतरित होती

है, वह सबकी सब विभिन्न इच्छाओं और आसक्तियों के छिद्रों से बह जाती है। साधक सदा खाली का खाली बना रहता है। इसी तरह केवल वैराग्य है, अभ्यास में दृढ़ता नहीं है, तो केवल आलस्य का अँधेरा ही जिन्दगी में घिरा रहता है। ऊर्जा, शक्ति, चैतन्यता की किरणें कहीं भी दिखाई नहीं देती। यही कारण है कि महर्षि दोनों की समन्वित आवश्यकता बताते हैं।

अभ्यास और वैराग्य को समन्वित रूप से अपनाने में साधना जीवन की सभी समस्याओं का एक साथ समाधान हो जाता है। प्राय: प्राय: सभी साधकों की साधनागत समस्याएँ एवं परेशानियाँ एक ही बिन्दु के इर्द-गिर्द घूमती रहती है - मन नहीं लगता, मन एक जगह में टिकता नहीं है। धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में **अर्जुन** ने **विश्वम्भर कृष्ण** से भी यही समस्या कही थी- **'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्'** - हे कृष्ण! यह मन बड़ा की चंचल है, बड़े ही प्रमथन स्वभाववाला और बहुत ही बलवान् है। अर्थात् मन की चंचलता ही इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि किसी भी तरह काबू में ही नहीं आती। महारथी अर्जुन के इस सवाल को सुनकर भगवान् कृष्ण ने कहा-

'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥' - गीता-६/३५

हे कुन्तीपुत्र महाबाहु अर्जुन! तुम्हारे इस कथन में कोई संशय नहीं है। इस मन की चंचलता किसी भी तरह से वश में आने वाली नहीं है। परन्तु अभ्यास और वैराग्य से इसे बड़ी आसानी से वश में किया जा सकता है। इसके बाद जगद्गुरु कृष्ण अर्जुन को चेताते हुए एक सूत्र और भी कहते हैं-

'असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥' - गीता-६/३६

अर्थात्- जिसके वश में मन नहीं है, ऐसे असंयत साधक के द्वारा योग में सफलता पाना अतिकठिन है, असम्भव है। जबकि जिन्होंने अपने मन को वश में कर लिया है, ऐसे साधक बड़ी आसानी से योग में सफल हो जाते हैं।

इस प्रकरण में प्रकारान्तर से भगवान् कृष्ण अभ्यास और वैराग्य की साधक के जीवन में अनिवार्य आवश्यकता बताते हैं। इन दोनों तत्त्वों को साधक का परिचय, पर्याय और पहचान भी कहा जा सकता है। यानि कि यदि कोई योग साधक है, तो उसके जीवन में साधनात्मक अभ्यास और वैराग्य होगा ही। इन दोनों के अभाव में साधक और उसकी साधना दोनों ही झूठे हैं।

रस्सी की तरह घिस दें-चुनौतियों के पत्थर

अन्तर्यात्रा का विज्ञान जीवन के हर झूठ से जूझ रहे योग साधकों के लिए पथ प्रदीप है। योग साधना की डगर कब किस ओर मुड़ती है, इसके प्रकाश में साफ-साफ समझा जा सकता है। साधकों की राह में आने वाले प्रश्न-कंटकों को हटाने-बीनने की पूरी व्यवस्था इसके उजाले में सम्भव है। इसकी किरणें साधकों के अन्तर्मन के अँधियारे की घुटन और घबराहट को हटाती है। इससे साधकों में अपनी साधना के लिए हिम्मत और हौसला बढ़ता है।

चेतना के धरातल पर देखें, तो यह पुस्तक ऐसे हिम्मती साधकों एवं महान् गुरुओं के बीच निरन्तर चलने वाला रहस्यमय वार्तालाप है। महर्षि पतंजलि एवं परम पूज्य गुरुदेव स्वयं इस योग कथा के माध्यम से अगणित साधकों की भावनाओं को सुनते हैं और उन्हें अपनी योग अनुभूतियों के अमृत रस का भागीदार बनाते हैं। इस योग कथा के शब्द तो बस उनकी विचार तरंगों के माध्यम भर हैं। इससे अधिक और कुछ भी नहीं।

जब साधक के सामने सवाल आता है कि आखिर यह अभ्यास क्या है और इसे करें कैसे ? तो महर्षि समाधान करते हुए अगला सूत्र कहते हैं-

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १/१३ ॥

शब्दार्थ- तत्र= उन दोनों (अभ्यास और वैराग्य) में से, **स्थितौ**= चित्त की स्थिति में, **यत्नः**= यत्न करना, **अभ्यासः**= अभ्यास है। यानि कि इन दोनों में, चित्त की स्थिति में (स्वयं में दृढ़ता से) प्रतिष्ठित होने का प्रयास करना अभ्यास है। अभ्यास की सामान्य महिमा से तो हममें से प्रायः सभी परिचित हैं। छोटे बच्चों और गाँव के किसानों से लेकर विशिष्टों, वरिष्ठों एवं विशेषज्ञों तक इसकी महिमा का गुणगान करते हैं। ग्रामीण जीवन में अभ्यास के बारे में एक कहावत अक्सर सुनी जाती है- **करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान। रसरी आवत जात है सिल पर परत निसान॥** अर्थात् अभ्यास करते-करते एकदम जड़मति

भी सविज्ञ-सुजान हो जाते हैं। कुछ उसी तरह से जैसे निरन्तर रस्सी की रगड़ से पाषाण पर भी निशान पड़ जाते हैं। मनुष्य की सारी क्षमताएँ उसके अभ्यास का ही फल है। यहाँ-तक कि पशु-पक्षी भी अभ्यास के बलबूते ऐसे-ऐसे करतब दिखाने लगते हैं, जिन्हें देखकर दाँतों तले उँगली दबाने का मन करता है।

बाहरी जीवन में, लौकिक जीवन में अभ्यास के ढेरों चमत्कार हम रोज देखते हैं। खुद की निजी जिन्दगी में भी अभ्यास के अनेकों अनुभवों को हमने जब-तब अनुभव किया है। परन्तु यह अभ्यास आन्तरिक जीवन में, आध्यात्मिक जीवन में किस तरह किया जाय, यह बात समझना अभी बाकी है। आध्यात्मिक जीवन में- आन्तरिक प्रयास। एक ऐसी होशपूर्ण कोशिश, जिसका मतलब है कि इससे पहले हम बाहर बढ़ें, हमें भीतर बढ़ना चाहिए। पहले हमें अपने केन्द्र में स्थित होने का प्रयास करना चाहिए। पहले हम अपने केन्द्र में स्थित होकर विचार करें और फिर कुछ दूसरा निर्णय करें। यह इतनी बड़ी रूपान्तरकारी घटना है कि एक बार जब हम अपने भीतर केन्द्रित हो जाते हैं, तो सारी बात ही अलग दिखाई पड़ने लगती है, सारा का सारा परिदृश्य ही बदल जाता है।

इस तरह केन्द्र में स्थित होने के लिए क्या करें? तो इसके जवाब में परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि जप, ध्यान, प्राणायाम आदि योगाभ्यास की सारी प्रक्रियाएँ इसीलिए हैं। योग की सभी प्रक्रियाओं का एक ही मतलब है कि आपको अपना परिचय करा दे। आपको अपने में स्थित कर दे। हालाँकि कभी-कभी यह देखा जाता है कि काफी सालों से जप करने वाले, ध्यान का अभ्यास करने वाले लोगों में भी कोई गुणात्मक मौलिक परिवर्तन नहीं आ पाता। इसकी वजह प्रक्रियाओं का दोष नहीं, बल्कि उसके अभ्यास में खामियाँ हैं। ध्यान रहे योग-प्रक्रियाएँ मात्र क्रियात्मक नहीं हैं, उनमें गहरी विचारणा एवं उच्च भावनाएँ भी समावेशित हैं।

भगवद्गीता में इसके बारे में कहा गया है-

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥—गीता-१७/२८

अर्थात्- हे पार्थ! अश्रद्धा से किया गया हवन, दिया गया दान, तपा गया तप और भी जो कुछ आध्यात्मिक क्रिया की गई है, वह सब कुछ असद् है, उसका न कोई परिणाम आध्यात्मिक जीवन में है और नहीं इस लौकिक जीवन में। इसलिए योगाभ्यास की कोइ भी प्रक्रिया हो, उसमें गहरी श्रद्धा और पवित्र विचारणा का समोवश निहायत जरूरी है।

इस सम्बन्ध में वृन्दावन के सन्त **स्वामी अखण्डानन्द महाराज** का संस्मरण बड़ा ही प्रेरक है। ध्यान रहे कि ये सन्त परम पूज्य गुरुदेव पर गहरी श्रद्धा करते थे। इनकी एक पुस्तक है पावन संस्मरण। इसमें उन्होंने लिखा है कि एक दिन वे ब्रह्ममुहूर्त में बैठकर माला जप रहे थे। उनकी कोशिश यही थी कि ज्यादा से ज्यादा मालाएँ जप ली जाएँ। इस बीच **परमहंस जगन्नाथपुरी** जी उधर से गुजरे। उन्हें जन सामान्य लोग **नेपाली बाबा** के नाम से जानते थे। इनका जप देखकर वह बोल पड़े- भला कहीं ऐसे जप किया जाता है? उनके वचनों से इनकी आँख खुली। नमस्कार करने पर परमहंस जी ने इन्हें गले लगाया और बोले- मंत्र साक्षात् भगवान् है, अपने ईष्ट की शब्दमूर्ति है। मंत्र चाहे कोई भी हो, उसे जपने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। सत्कार के साथ, धीर गम्भीर भाव के साथ मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। प्रत्येक शब्द का गहराई से उच्चारण करें। इस तरह एक अक्षर से दूसरे अक्षर तक पहुँचने में कुछ समय लगे। इससे मन में संकल्प नहीं होगा। जब मन खाली होगा, तो उसमें अपने ईष्ट का प्रकाश होगा।

गायत्री महामंत्र को योग साधक अपनी योग साधना का सर्वस्व मानकर अभ्यास करें। मन ही मन प्रत्येक अक्षर का स्पष्ट उच्चारण, साथ ही यह प्रगाढ़ भाव कि इन चौबीस अक्षरों में स्वयं आदि शक्ति जगन्माता अपनी चौबीस शक्तियों के साथ समायी हैं। यह मंत्र स्वयं ही परमा शक्ति है, साथ ही साधक को सब कुछ देने में समर्थ है। जप करते समय ही नहीं, जप करने के बाद रह-रहकर साधक के मन में माता का स्मरण होते रहना चाहिए। ध्यान रहे जप के साथ मौन-एकान्त एवं अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य साधक के अभ्यास को दृढ़ करते हैं। ❖❖

बिन श्रद्धा-विश्वास के नहीं सधेगा अभ्यास

अभ्यास दृढ़ से दृढ़तर और दृढ़तम कैसे हो? यह समझने से पूर्व यह हृदयंगम कर लेना चाहिये कि यह यह योग कथा केवल उन्हीं के लिए है, जिनकी आत्मचेतना में योग साधना के प्रति श्रद्धा है, विश्वास है, तड़प है, त्वरा है, तृषा है। महर्षि पतंजलि एवं परम पूज्य गुरुदेव का संवाद सिर्फ उन्हीं से है, जो इस संवाद में अपनी भागीदारी चाहते हैं। दोनों महर्षियों ने अपना खजाना खोल रखा है, पर कोई कोरा बुद्धिवादी इसे छू भी नहीं सकता, उसे साधक बनना ही होगा। अन्यथा **गोस्वामी तुलसी बाबा** के शब्दों में उसकी स्थिति कुछ ऐसी होगी-

करि न जाइ सर मज्जन पाना।
फिर आवइ समेत अभिमाना।
जो बहोरि कोउ पूछन आवा।
सर निन्दा करि ताहि बुझावा॥

अर्थात्- इस योग कथा के सरोवर में उनसे स्नान और जलपान तो किया नहीं जाता; वह इसके पास जा करके भी खाली हाथ अभिमान सहित लौट जाते हैं। यदि उनसे कोई पूछता है कि यह योग कथा कैसी है, तो वे इसकी अनेक तरह से निन्दा करके उसे समझाते है।

गोस्वामी जी महाराज आगे कहते हैं-

सकल विघ्न व्यापहिं नहि तेही।
राम सुकृपाँ बिलोकहि जेही॥

जो साधक हैं, जिन पर भगवान् की कृपा है, उन्हें कोई विघ्न नहीं सताते हैं। उन्हें इस योग कथा को समझने में किसी तरह की कोई परेशानी नहीं होगी। उनकी जाग्रत् आत्मचेतना योग के रहस्यों को बड़ी ही आसानी से ग्रहण कर लेगी।

इस सच्चाई के बावजूद अनेकों को अभ्यास से शिकायतें भी हैं। उनका कहना है कि इतने सालों से अभ्यास कर रहे हैं, पर मेरे जीवन में वैसा कुछ भी नहीं हुआ, जिसकी उम्मीद थी। सालों-साल साधना करने के बावजूद, सालों तक गायत्री जपने के बावजूद जिन्दगी में कोई चमत्कारी परिवर्तन नहीं हुए। तब क्या; अभ्यास की महिमा गलत है अथवा फिर साधना की विधि में कोई दोष है?

इस जिज्ञासा के समाधान में महर्षि पतंजलि कहते हैं कि न तो अभ्यास की महत्ता में कोई सन्देह है और न ही गायत्री महामंत्र की साधना या कोई योग विधि में कोई दोष है। बात सिर्फ इतनी सी है कि अभ्यास ठीक तरह से किया नहीं गया। अभ्यास किस तरह से किया जाय इसकी चर्चा महर्षि अपने अगले सूत्र में करते हैं-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः॥ १/१४॥

शब्दार्थ-तु= परन्तु, **सः**= वह (अभ्यास), **दीर्घकालनैरन्तर्य-सत्कारासेवितः**= बहुत काल तक निरन्तर (निरन्तर) और आदरपूर्वक (श्रद्धा-निष्ठा के साथ) सांगोपांग सेवन किया जाने पर, **दृढ़भूमि**=दृढ़ अवस्था वाला होता है। यानि कि- बिना किसी व्यवधान के श्रद्धा-भरी निष्ठा के साथ लगातार लम्बे समय तक इसे जारी रखने पर वह दृढ़ अवस्था वाला हो जाता है।

महर्षि पतंजलि के अनुसार अभ्यास की सफलता के लिए चार चीजों का होना जरूरी है, इनमें पहली है-**लम्बा समय**, दूसरी है-**निरन्तरता**, तीसरी है-**भाव भरी श्रद्धा** और चौथी है-**दृढ़ निष्ठा**। साधना अभ्यास में यदि ये चार तत्त्व जुड़े हों, तो अभ्यास चमत्कारी परिणाम उत्पन्न किए बिना नहीं रहता। जिन्हें अपने अभ्यास के परिणाम से शिकायत है, उन्हें महर्षि के इस कथन के प्रकाश में आत्मावलोकन व आत्मसमीक्षा करनी चाहिए। वे अवश्य ही यह पाएँगे कि उनके जीवन में कहीं न कहीं किसी तत्त्व की कमी है।

अक्सर देखा जाता है कि लोग शुरुआत तो बड़े उत्साह के साथ करते हैं, बड़ी उमंग-उल्लास से अपनी साधना का प्रारम्भ करते हैं, बाद में महीने-दो-महीने, साल दो साल या ज्यादा से ज्यादा पाँच-छः साल में इसे छोड़ बैठते हैं। जो लोग दीर्घकाल तक साधना जारी भी रखते हैं, उनमें प्रायः निरन्तरता का अभाव होता है। होता यह है कि एक महीने मन लगाकर साधना की, बाद में सब कुछ छूट गया। फिर एकाएक मन में उत्साह उमड़ा और दुबारा शुरू हो गया। पर इस बार दो-तीन महीने में थक कर रुक गए। यही सिलसिला जीवन पर्यन्त चलता रहता है। रुक-रुक कर चलना, थक-थक कर रुकना, इस तरह से साधना अभ्यास कभी भी सफल नहीं होता है। साधना की अविराम गति में लय का संगीत होना चाहिए।

जो साधक किसी तरह अपनी साधना में दीर्घकाल और निरन्तरता को बनाए रखते हैं, उनमें भावभरी श्रद्धा एवं अडिग निष्ठा की कमी रह जाती है। बार-बार मन में सन्देह एवं चित्त में व्यग्रता पनपती रहती है। पता नहीं, यह साधना सही है भी या नहीं। पता नहीं, साधना का पथ दिखाने वाले गुरु ठीक भी हैं या नहीं। पता नहीं, मुझे मंजिल मिलेगी भी या नहीं। इस तरह से डगमगाती श्रद्धा और चंचल निष्ठा, साधक और उसकी साधना को कहीं भी नहीं पहुँचने देती। वह प्रत्यक्ष में क्रिया तो करता रहता है, पर भाव और विचारों की कमजोरी के कारण उसकी साधना सदा प्राणहीन और बलहीन बनी रहती है।

साधना के अभ्यास में बल और प्राण कैसे आएँ? इसका उत्तर स्वयं परम पूज्य गुरुदेव का अपना जीवन है। चौबीस वर्षों का दीर्घकाल, उसमें सदा बनी रहने वाली तप की निरन्तरता, सद्गुरु और गायत्री मंत्र पर गहन भाव श्रद्धा एवं अविचल अडिग निष्ठा ने ही उन्हें महासाधक और महायोगी होने का गौरव दिलाया। गुरुदेव अपनी चर्चा में कहते थे कि मेरे लिए गायत्री महामंत्र, गायत्री माता और अपनी मार्गदर्शक सत्ता में कभी कोई अन्तर नहीं रहा। गायत्री महामंत्र के २४ अक्षर ही मेरे जीवन सर्वस्व थे और हैं। अपनी

अविराम साधना में पल-पल इनमें मैंने अपने प्राण अर्पित किए हैं। यही है आदर्श मानदण्ड—साधना के अभ्यास का। बिना थके, बिना रुके, समर्पित भावनाओं के साथ साधना का अभ्यास करते जाना चाहिए।

गायत्री महामंत्र की साधना के सम्बन्ध में गुरुदेव की एक बात और मनन योग्य है। वह कहते थे- गायत्री साधना के चमत्कार अनुभव करने हैं, तो मन को इधर-उधर मत भटकाओ, अधिक नहीं तो अनुष्ठान के नियमों का पालन करते हुए २४-२४ हजार के अनुष्ठान करते रहो। समर्पित भाव श्रद्धा के साथ की गई निरन्तर, निष्ठापूर्वक और लम्बे समय की साधना के परिणाम में गायत्री महामंत्र तुम्हें सब कुछ दे देगा। इस साधना में भाव श्रद्धा कैसी हो इस बारे में गोस्वामी जी महाराज के वचन है-

पुलक गात हिय सिय रघुबीरु।
जीह नाम जप लोचन नीरू॥

भावना से पुलकित शरीर, हृदय में आराध्य की छवि, जिह्वा से मंत्र जप, और नयनों में भाव बिन्दु। महातपस्वी भरत की साधना के प्रसंग में कही गयी चौपाई गायत्री साधकों के लिए जीवन मंत्र बन सकती है।

वैराग्य ही देगा साधना में संवेग

साधना के अभ्यास की पूर्णता के लिए वैराग्य की भी आवश्यकता है। व्यावहारिक जीवन में देखा यह जाता है कि अनेकों प्रयत्नों के बावजूद साधक में चाहत होने पर भी साधना में संवेग नहीं उत्पन्न हो पाता।

महर्षि पतंजलि अगले सूत्र में स्पष्ट कहते हैं कि साधना में संवेग तब तक नहीं आ पायेगा, जब तक साधक वैराग्य से वंचित है। वैराग्य विहीन साधना में पहले तो गति और संवेग उत्पन्न ही नहीं होता, यदि किसी कारण संकल्प की दृढ़ता पर ऐसा हो भी गया, तो भी इससे मात्र भौतिक प्रयोजन ही पूरे हो पाते हैं। वैराग्य के बिना कैसी भी और कितनी भी साधना क्यों न की जाय, इसे आध्यात्मिक परिणाम नहीं होते। ऐसों को कभी भी आत्म जागृति की अनुभूति नहीं हो पाती। आत्म जागृति एवं आध्यात्मिक सम्पदा की प्राप्ति का एक ही उपाय है-वैराग्य। महर्षि के स्वरों में इस वैराग्य का सूत्र है-

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १/१५॥

शब्दार्थ- दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य= देखे और सुने गये विषयों में सर्वथा तृष्णा रहित चित्त की; **वशीकारसंज्ञा** = जो वशीकार नामक अवस्था है वह, **वैराग्यम्** = वैराग्य है।

अर्थात् वैराग्य, निराकांक्षा की 'वशीकार संज्ञा' नामक पहली अवस्था है। ऐन्द्रिक सुखों की तृष्णा में सचेतन प्रयास द्वारा भोगासक्ति की समाप्ति।

महर्षि पतंजलि के अनुसार वैराग्य की दो भाव दशाएँ हैं - १. साधन वैराग्य, २. सिद्ध वैराग्य। इन्हें यूँ भी कहा जा सकता है, १. अपर वैराग्य, २. पर वैराग्य। इस साधन वैराग्य या अपर वैराग्य को ही वशीकार संज्ञा दी गयी है। इस का मतलब है—देखे और सुने गए विषयों के प्रति वितृष्णा। इनके प्रति भोगासक्ति का न होना। इन विषय भोगों के लिए मन में गहरी

निराकांक्षा। ऐसा होना ही वैराग्य है। इसी से साधना अभ्यास को ऊर्जा मिलती है। प्रकारान्तर से वैराग्य को अभ्यास का ऊर्जा स्रोत भी कहा जा सकता है।

साधकों के मन में प्राय: जिज्ञासा उठती है कि यह वैराग्य सधे कैसे? अभ्यास तो थोड़ा बहुत जैसे-तैसे हो भी जाता है, परन्तु वैराग्य कहीं से भी नहीं पनपता। माला को पकड़े हुए हाथ मनके भले ही खिसकते रहे, पर मन काम-काज में, बेटी-बेटों में, नाती-पोतों में ही उलझा रहता है। अक्सर देखा यह जाता है कि हर एक की आयु के हिसाब से ये उलझनें अलग-अलग होती हैं। बच्चे अपने साधना अभ्यास के समय कुछ अलग सपने देखते हैं, तो किशोर व युवाओं के ख्वाब कुछ और होते हैं। इन सभी में यदि किसी एक तत्त्व की समानता होती है, तो वह है सभी में भटकाव। जप करते समय, ध्यान करते समय मन यूँ ही भटकता रहता है। रह-रह कर वह इन्द्रिय विषयों, भोग आसक्तियों की कल्पनाओं से घिर जाता है। हममें से किसी के साथ ऐसा होने का मतलब वैराग्य का अभाव है। जो यह कहते हैं कि हमारा जप में, ध्यान में मन नहीं लगता, तो उन्हें इस सत्य को जान लेना चाहिए कि इसका केवल एक कारण वैराग्य का न होना है।

वैराग्य हो कैसे? परम पूज्य गुरुदेव अपनी व्यक्तिगत चर्चाओं में इस बारे में एक ही बात कहते थे-बेटा! वैराग्य का जन्म विवेक के गर्भ से होता है। अभ्यास तो विवेक के बिना भी हो सकता है, पर वैराग्य कभी भी विवेक के बिना नहीं होता। पहले विवेक होगा, तभी वैराग्य सधेगा। विवेक का अर्थ है सही-गलत की ठीक समझ, उचित-अनुचित का सही ज्ञान, नाशवान् और अविनाशी तत्त्व का बोध, सत् और असत् की पहचान। ऐसा होने पर ही वैराग्य सधता है। गुरुदेव कहा करते थे कि कोई व्यक्ति जान-बूझकर जहर नहीं खाता, उसी तरह से कोई भी समझदार आदमी कभी भी विषय भोगों में नहीं उलझता।

भगवान् श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में साफ तौर पर कहा है-'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।**'—गीता ५/२२ अर्थात् इन्द्रियों के स्पर्श से अनुभव होने वाले जो

भी भोग है, वे सबके सब दु:ख के स्रोत हैं। ये सभी आदि और अन्त वाले होने के कारण नाशवान् हैं। इसलिए विवेकवान् लोग इसमें नहीं रमते। यानि कि जो भी विवेकवान है, वह हर कीमत पर विषय भोगों से दूर रहेगा। प्रकारान्तर से जहाँ विवेक है, वहीं वैराग्य होगा ही। इन दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। सम्भव नहीं है—इनमें अलगाव।

भोग चाहे लौकिक हो या अलौकिक, सभी निरर्थक है। अर्थपूर्ण केवल आत्मतत्त्व है। अपने सद्गुरु से प्रेम, ईश्वर से प्रेम ही जीवन का सार तत्त्व है। साधना अभ्यास के लिए हमें वैराग्यवान् एवं ईश्वर परायण होना ही पड़ेगा और इसके लिए जरूरी है, सांसारिक दु:खों का बार-बार चिंतन। वैराग्य की सच्ची साधना **भगवान् बुद्ध** को थी, जिन्होंने सारे राजसी सुखों के बीच रहकर भी यही निष्कर्ष निकाला '**सब्बं दुक्खम्**' - यह सब दु:ख ही है। **श्रीरामकृष्ण परमहंस** कहा करते थे- वैराग्य साधना है, तो भगवान् को पुकारो। उनके शब्दों में काशी की ओर जितना बढ़ो, कलकत्ता उतना ही पीछे छूटता है। यानि कि भगवान् की ओर जितना बढ़ोगे-संसार की आसक्ति उतना ही घटेगी। यह साधन वैराग्य जितना सघन होगा, उतना ही हम सिद्धवैराग्य की ओर आगे बढ़ेंगे।

प्रभु प्रेम से मिलेगा–वैराग्य का चरम

वैराग्य की कसौटी पर पूर्णतया खरा साबित हुए बिना योग की मंजिल मृगतृष्णा ही बनी रहेगी। जहाँ साधन वैराग्य ऐन्द्रिक सुखों की तृष्णा में सचेतन प्रयास द्वारा भोगासक्ति की समाप्ति है, वहीं सिद्ध वैराग्य इसकी अगली और चरमावस्था है।

यह सिद्ध वैराग्य क्या है? इस जिज्ञासा के उत्तर में महर्षि कहते हैं-

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥ १/१६॥

शब्दार्थ- पुरुषख्यातेः= पुरुष के ज्ञान से; **गुणवैतृष्ण्यम्**= जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा का अभाव हो जाना है; **तत्**= वह; **परम्**= पर वैराग्य है।

अर्थात् यह पर वैराग्य निराकांक्षा की अन्तिम अवस्था है- पुरुष के परम आत्मा के अन्तरतम स्वभाव को जानने के कारण समस्त इच्छाओं का विलीन हो जाना।

वैराग्य की यह अवस्था अतिदुर्लभ है। परमात्मा में अन्तश्चेतना के विलीन हो जाने पर यह अपने आप ही प्रकट हो जाती है। इसीलिए इसे पर वैराग्य कहते हैं। सिद्ध महापुरुषों की यह स्वाभाविक दशा होने के कारण इसे सिद्ध वैराग्य भी कहा जाता है। यह समस्त साधनाओं का फल है, जो सिद्ध योगियों को सहज सुलभ रहता है। अन्तर्चेतना प्रभु में विलीन होने के कारण विषयों के प्रति, भोगों के प्रति न गति होती है, न रुचि और न ही रुझान। यह प्रभुलीन भावदशा की सहज अभिव्यक्ति है। प्रभु प्रीति की सहज रीति है यह।

यह अवस्था कैसे मिले? इस परम सिद्धि का भाव चेतना में किस भाँति अवतरण हो? योग साधकों की जिज्ञासाओं का एक ही उत्तर है, प्रभु प्रेम। जिनमें भगवान् की भक्ति है, प्रभु चरणों में अनुरक्ति है, उन्हें यह

सिद्धि अपने आप ही मिल जाती है। भक्ति के अलावा अन्य जो भी साधना मार्ग है- उन पर चलकर इस सिद्ध वैराग्य के दर्शन हो तो सकते हैं, पर बड़ी कठिनाई से। यह भी सम्भव है कि इन राहों पर साधकों को कई बार अटकना या रुकना पड़े। और हो सकता है, सब कुछ करके भी सिद्ध वैराग्य तक न भी पहुँचा जा सके।

इस सम्बन्ध में परम पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से निकले आप्त वचन मानसिक चेतना में उस दिन की भाँति ही प्रखरता से प्रदीप्त है। जब उन्होंने वैराग्य के मर्म को समझाते हुए कहा था- बेटा! मीरा, तुलसी, सूर, रैदास आदि भक्तों को यह अपने आप ही सुलभ हो जाता है। प्रभु स्मरण, प्रभु चिन्तन और प्रभु प्रेम में भीगा हुआ मन जब एक बार उनके चरणों में विलीन हो जाता है, तो किसे याद रह जाते हैं—विषय भोग। कहाँ याद रह पाती है- इन्द्रिय विलास की बातें। सब कुछ साँप की केंचुल की तरह उतर जाता है। पेड़ से सूखे पत्ते की भाँति झड़ जाता है।

इस बारे में गुरुदेव प्राय: **नारद मोह की कथा** सुनाया करते थे। देवर्षि नारद पहले महान् ज्ञानी योग साधक थे। उनकी योग साधना अति प्रखर थी। विवेक उनमें पूर्णतया प्रज्वलित था। अपनी साधना की प्रचण्ड अविरामता में उन्होंने हिमालय में समाधि लगा ली। उनकी योग साधना का तेज ऐसा बढ़ा की देव शक्तियाँ परेशान हो गयी। देवलोक वासियों ने उन्हें डिगाने के लिए भाँति-भाँति के मायाजाल रचे। एक के बाद एक नए तरीके अपनाए, पर कोई कामयाबी न मिली। अन्तिम अस्त्र के रूप में उन्होंने कामदेव को सम्पूर्ण सेना के साथ भेजा। काम की सारी कलाएँ, अप्सराओं की सारी नृत्यलीलाएँ देवर्षि नारद के वैराग्य के सामने पराजित हो गयी। अन्तत: उन सबने देवर्षि से क्षमा याचना की और वापस अपने लोक चले गए।

काम को पराजित करने वाले नारद को अपने महान् वैराग्य का गर्व हो गया। अपनी काम विजय की कथा उन्होंने शिव, ब्रह्मा एवं विष्णु को सुना डाली। सर्वेश्वर ने उनके गर्वहरण के लिए लीला रची। जिन नारद के

वैराग्य का प्रभाव कुछ ऐसा था कि - '**काम कला कछु मुनिहि न व्यापी। निज भय डरेउ मनोभव पापी॥**' अर्थात् काम की कोई भी कला मुनिवर को नहीं व्यापी और वह कामदेव अपने पाप से डर गया। वही नारद कुछ ऐसे हो गए कि- '**जप तप कुछु न होई तेहि काला। हे विधि मिलहि कवन विधि बाला॥**' अर्थात् उनसे उस समय कुछ भी जप-तप नहीं बन पड़ा। बस वे यही सोचने लगे कि हे विधाता किस तरह मेरा विवाह इस कन्या से हो जाय।

यह कथा सुनाते हुए गुरुदेव ने कहा था—सब कुछ होने पर भी जब तक अहं का भगवान् में समर्पण, विसर्जन, विलय नहीं होता, तब तक कभी वैराग्य सिद्ध नहीं होता। भक्तिमार्ग में पहले ही कदम पर अहं का बलिदान करना पड़ता है। इसीलिए भक्त को अपने आप ही सिद्ध वैराग्य मिल जाता है। **गोस्वामी तुलसीदास जी** ने भक्ति की महिमा की **अरण्यकाण्ड** में बड़ी ही सुन्दर चर्चा की है। नारद की जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् कहते हैं-

जनहि मोर बल निज बल ताही।
दुह का काम क्रोध रिपु आही॥
यह विचारि पंडित मोहि भजहीं।
पायहु ज्ञान भगति नहि तजहीं॥

भक्त को मेरा बल (भगवान् का बल) रहता है और ज्ञानी को अपने बल (स्व विवेक) का सहारा रहता है। काम क्रोध दोनों के ही शत्रु हैं। यह सोचकर विद्वज्जन मेरी भक्ति करते हैं। ज्ञान मिलने पर भी इसका त्याग नहीं करते। गुरुदेव कहते थे कि भक्त में वैराग्य की परम भावदशा प्रकट होती है। उसके लिए विराग (वैराग्य) आराध्य के प्रति वि+राग यानि कि विशिष्ट राग बन जाता है। श्रीरामकृष्ण देव इस प्रसंग पर कहा करते थे कि एक बार उनके प्रति प्रेम जग जाय, तो फिर रम्भा-तिलोत्तमा जैसी रूपसी अप्सराएँ चिता भस्म जैसी त्याज्य लगने लगती हैं। भगवद्गीता में श्री कृष्ण ने भी यही सत्य कहा है-

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।

रसोवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निर्वतते॥—गीता-२/५९

यानि कि विषय भोग तो उसके भी छूट जाते हैं, जो इन्द्रिय से विषयों को नहीं ग्रहण कर रहा है, पर रस तो प्रभु दर्शन के बाद ही छूटता है। यह परं दृष्ट्वा स्थिति ही पर वैराग्य है, जो प्रभु भक्ति से सहज प्राप्त है। इस वैराग्य में ही समाधान की समाधि है।

जब वैराग्य से धुल जाए मन

अन्तर्यात्रा का विज्ञान- महर्षि पतंजलि एवं ब्रह्मर्षि परम पूज्य गुरुदेव के आध्यात्मिक प्रयोगों का निष्कर्ष है। परम पूज्य गुरुदेव ने बार-बार अपने इस जीवन सत्य को दुहराया है कि अध्यात्म एक सम्पूर्ण विज्ञान है। हाँ, यह अन्तर्जगत् का विज्ञान है, जबकि प्रचलित विज्ञान की अन्य शाखा-प्रशाखाएँ बाह्य जगत् की हैं। उनके एक-एक शब्द को समझने की कोशिश करनी होगी। दरअसल यह कठिन कार्य है। क्योंकि उनकी शब्दावली तर्क की, विवेचना की, विज्ञान की है, पर उनका संकेत परमात्मा की ओर है, महाभाव की ओर, प्रभु प्रेम के अहोभाव की ओर है।

वैराग्य ऐसा ही शब्द है। कुछ लोगों ने इसका अर्थ जिम्मेदारियों से भाग कर निठल्लेपन से जिंदगी बिताना बना लिया है। पर वास्तव में देखा जाए तो इसका महत्व अनंत है। इसकी अति दुर्लभ अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि की ओर ले जाती है। यह सम्प्रज्ञात समाधि क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में महर्षि कहते हैं-

वितर्कविचारानंदास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥ १/१७॥

शब्दार्थ- वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात्= वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता- इन चारों के सम्बन्ध से युक्त (चित्तवृत्ति का समाधान), **सम्प्रज्ञातः**=सम्प्रज्ञात समाधि है।

अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि वह समाधि है, जो वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के भाव से संयुक्त होती है।

दरअसल यह वैराग्य से धुले हुए निर्मल चित्त की सहज परिणति है। इस स्थिति में मन पूरी तरह से सूक्ष्म और शुद्ध हो जाता है। यह इतना शुद्ध एवं सूक्ष्म हो जाता है कि उसकी कोई प्रवृत्ति नहीं रहती चिपकने की। हालाँकि यह समाधि का पहला चरण है। इसके अगले चरण में तो मन ही नहीं रहता। अ-मन की अवस्था है वह। लेकिन यह जो पहला चरण है,

वह भी पुलकन और आनन्द से ओत-प्रोत है। ज्यादातर साधक तो यहीं ठहर जाते हैं। उन्हें आगे बढ़ने की सुध ही नहीं रहती। इस पहले चरण में भी चार भाव दशाएँ हैं।

पहली भावदशा है—वितर्क की। यह तर्क का एक खास रूप है। यूँ तर्क साधारण तौर पर तीन रूपों में प्रकट होता है। इनमें से पहली अवस्था है **कुतर्क** की। यह तर्क की निषेधात्मक स्थिति है। कुतर्क में जीने वालों की नजर हमेशा ही जिन्दगी के अँधेरे पहलुओं पर होती है। उदाहरण के लिए गुलाब के पौधे में सुन्दर फूल होते हैं, लेकिन चुभने वाले काँटे भी होते हैं। कुतर्क वाला व्यक्ति काँटों की गिनती करेगा और अन्ततः यह नतीजा निकालेगा कि वास्तविक सच्चाई तो कांटे ही हैं, यह गुलाब तो निरा भ्रम है। फिर है **तर्क**-यानि की गोल-गोल चक्करों वाली भुलभुलैया। तर्क में प्रवीण व्यक्ति कितना ही तर्क करे, पर पहुँचेगा कहीं नहीं। वह यूँ ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में भटकता हुआ ऊर्जा गँवाएगा। बिना ध्येय का विचार तर्क कहलाता है।

जबकि **वितर्क** की भूमि विधेयात्मक है। एक तरह से वितर्क 'आर्ट ऑफ पॉजिटिव थिंकिंग' है। विधेयात्मक चिन्तन की कला है। यह सम्प्रज्ञात समाधि का पहला तत्त्व है। जो व्यक्ति आन्तरिक शान्ति पाना चाहता है, उसे वितर्क को अपनाना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति ज्यादा प्रकाशमय पक्ष की ओर देखता है। वह फूलों को महत्त्व देता है, काँटों को भूल जाता है। उसके लिए अपने आप ही शुभ और सुन्दर के द्वार खुलते हैं।

परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि जो व्यक्ति हमेशा पॉजिटिव सोचता है, तो समझो उसका अध्यात्म राज्य में प्रवेश निश्चित है। उसने समाधि के द्वार पर अपना पहला कदम रख दिया। उनका कहना था-विधेयात्मक सोच से विचारणा उदय होती है। विचारणा का अर्थ है-सुव्यवस्थित विचार। इसे विचारों की समग्रता भी कह सकते हैं। गुरुदेव का कहना था कि विचार और विचारशीलता में भारी फर्क है। विचार तो यूँ ही उठते-गिरते रहते हैं, बनते-बिगड़ते रहते हैं। जबकि विचारशीलता अपने अस्तित्व की आन्तरिक गुणवत्ता है। विचारशीलता का अर्थ है-सजग एवं जागरूक

बने रहना। यह विचारशीलता सम्प्रज्ञात समाधि की दूसरी भावदशा है। यहाँ चिन्तन की नवीन कोपलें फूटती हैं। चेतना का अँधियारा समाप्त होता है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि वितर्क यानि की सम्यक् तर्क ले जाता है विचारणा की ओर और विचारणा ले जाती है आनन्द की ओर। इस आनन्द की अनुभूति में अपनी अन्तर्चेतना की पहली झलक मिलती है। सम्प्रज्ञात समाधि की यह ऐसी अवस्था है, जैसे बादल हट गए और हमने क्षण भर के लिए सही चाँद को देख लिया। फिर से बादल घिर आते हैं। इसे कुछ इस तरह भी समझ सकते हैं कि जैसे हम हिमालय यात्रा पर गए और वहाँ चहुँओर धुंध छायी हुई है। यकायक धुंध हटी और हिमालय के उच्चतम शिखर की शुभ्र धवल ज्योतिर्मय झलक मिल गयी। सच कहें, तो यथार्थ में यह सम्प्रज्ञात समाधि का पहला स्वाद है।

आनन्द की यह भावदशा ले जाती है विशुद्ध अंतस् सत्ता की अवस्था में। यह विशुद्ध अंतस् सत्ता ही अस्मिता है। अन्तस् सत्ता का अशुद्ध प्रकटीकरण अहंकार के रूप में होता है। अहंकार में तुलना होती है। यह किसी से ज्यादा होने का सुख हो उठता है। किसी का विरोध करने में, उससे जीवन में इसे बड़ा आनन्द आता है। अहंकार जीवन का नकारात्मक दृष्टिकोण है। जबकि अस्मिता विधेयात्मक दृष्टिकोण की अनुभूति है। इस अनुभूति में अपने स्वरूप की झलक मिलती है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि अस्मिता मैं का सम्यक् बोध है, जबकि अहंकार मैं का गलत बोध है। ध्यान की प्रगाढ़ता में अस्मिता की बड़ी सम्मोहक झलक मिलती है। ऐसा लगता है, जैसा सागर के बीच बूँद- जो अपने होने का अहसास तो कर पाती है, परन्तु अलगाव की अनुभूति नहीं कर पाती।

इस तरह सम्प्रज्ञात समाधि में सम्यक् तर्क, सम्यक् विचारणा, आनन्द की अवस्था और 'हूँ' पन की या अस्मिता का अनुभव समाया है। इस समाधि की भावदशा में चेतना अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती है। परन्तु यहाँ अभी कर्मों के संस्कारों के बीज बने रहते हैं। इन्हें निर्बीज करने के लिए समाधि के अगले चरण में प्रवेश आवश्यक है।

❖❖❖❖❖❖

जिससे निर्बीज हो जाएं सारे कर्म संस्कार

अन्तर्यात्रा का विज्ञान अन्तर्जगत के नंदनवन में प्रवेश करने के इच्छुक योग साधकों के लिए नेह भरा निमंत्रण है। इसमें उनके लिए आह्वान है, जो अन्तर्यात्रा करने के लिए उत्सुक हैं, जिज्ञासु हैं। जिनमें महर्षि पतञ्जलि एवं ब्रह्मर्षि परम पूज्य गुरुदेव की योग अनुभूतियों का साझीदार बनने की निष्कपट चाहत है। इसकी प्रत्येक पंक्ति में उठ रही पुकार उनके लिए है, जो अध्यात्म विद्या के वैज्ञानिक बनना चाहते हैं। अगर ऐसा कुछ आप में है, तो इसे सुनिश्चित सत्य मानें कि महर्षि पतंञ्जलि एवं ब्रह्मर्षि गुरुदेव आपकी अंगुली थामकर आपको कदम दर कदम इस अन्तर्यात्रा पथ पर आपको आगे बढ़ायेंगे। बस, आपको केवल उठकर खड़ा होना होगा। इसके लिए इस योग कथा की प्रत्येक पंक्ति के प्रत्येक शब्द पर गहनता से मनन करना होगा।

महर्षि बता चुके हैं कि कर्म संस्कारों के निर्बीज होने की संभावना चित्त की असम्प्रज्ञात भावदशा में सम्भव बन पड़ती है। असम्प्रज्ञात समाधि क्या है ? इस जिज्ञासा के समाधान में महर्षि का कथन है-

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः॥ १/१८॥

शब्दार्थ- विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः= विराम-प्रत्यय का अभ्यास जिसकी पूर्व अवस्था है और **संस्कारशेषः**= जिसमें चित्त का स्परूप 'संस्कार' मात्र ही शेष रहता है, वह योग, **अन्यः** -अन्य है।

अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि में सारी मानसिक क्रिया की समाप्ति होती है और मन केवल अप्रकट संस्कारों को धारण किये रहता है।

सम्प्रज्ञात समाधि का पहला चरण पूरा करने के बाद ही योग साधक को असम्प्रज्ञात अवस्था सुलभ होती है। पहला चरण है—शुद्धता का और दूसरा चरण है- विलीनता का। हालाँकि ये दोनों ही क्रियायें मन की ऊपरी

सतह पर ही सम्पन्न होती हैं। भीतरी सतह यानि कि अचेतन मन में पूर्व जन्मों के संस्कार जस के तस बने रहते हैं। इनका नाश अभी भी नहीं होता है। हालाँकि ये अप्रकट रहते हैं। फिर भी इनकी उपस्थिति बरकरार रहती है।

परम पूज्य गुरुदेव इस भाव सत्य को अपने वचनों में कुछ यूँ प्रकट करते थे। वह कहते थे कि निष्काम कर्म करते हुए मन शुद्ध हो जाता है। विचार और भावनायें धुल जाती हैं, तो सम्प्रज्ञात समाधि की झलक मिलती है। लेकिन इस शुद्धतम अवस्था में भी मन तो बना ही रहता है, लेकिन यह जब मन ही विलीन हो जाता है, तो समझो कि असम्प्रज्ञात समाधि उपलब्ध हो गयी। पहली अवस्था में काँटे हट जाते हैं, छट जाते हैं, तो दूसरी अवस्था में फूल भी गायब हो जाते हैं।

असम्प्रज्ञात समाधि की यह भाव दशा बड़ी अजब-गजब है। साधारण तौर पर सामान्य मनुष्य तो इसकी कल्पना ही नहीं कर सकता। मनोलय, मनोनाश की कल्पना करना, इसमें निहित सच्चाई की अनुभूति करना अतिदुर्लभ है, क्योंकि साधारण तौर पर तो सारी की सारी जिन्दगी मन के चक्कर काटते, मन की उलझनों में उलझते बीतती है। एक विचार, एक कल्पना से पीछा नहीं छूटता कि दूसरी आ धमकती है। यही सिलसिला चलता रहता है। अनवरत-निरन्तर यही प्रक्रिया गतिशील रहती है। हाँ, यह जरूर होता है कि कभी अच्छी कल्पनायें, अच्छे विचार उपजते हैं, तो कभी बुरे विचार और बुरी कल्पनायें सताती हैं।

पहली समाधि की दशा जिसे सम्प्रज्ञात कहते हैं, उसमें बुराई गिर जाती है। मन की सारी अशुद्धता तिरोहित हो जाती है। दूसरी अवस्था में असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में अच्छाई भी गिर जाती है। यहाँ तक कि अच्छाई या शुद्ध अवस्था को धारण करने वाला मन भी समाप्त हो जाता है। मन की यह समाप्ति प्रकारान्तर से देह बोध की समाप्ति है। इस अवस्था में देह के पृथक होने का अहसास होता है। अभी हम कितना ही कहते रहें कि मैं अलग और मेरी देह अलग। परन्तु यह बात होती निरी सैद्धान्तिक है। अनुभूति के धरातल पर इसकी कोई कीमत नहीं है। जब तक मन

रहता है, तब तक हम सदा देह से चिपके रहते हैं। देह की चाहतें, देह के सुख-दुःख हमें लुभाते या परेशान करते रहते हैं।

लेकिन मन के गिरने के बाद, असम्प्रज्ञात दशा में देह और दैहिक व्यवहार का संचालन मन की गहरी परत में, चित्त में दबे हुए अप्रकट संस्कार करते हैं। अतीत के कर्मबीज, विगत जन्मों का प्रारब्ध-बस इसी के द्वारा जीवन की सारी गतिविधियाँ चलती रहती हैं। ध्यान रहे, इस असम्प्रज्ञात भाव दशा में नये कर्म बीज नहीं इकट्ठे होते, क्योंकि इनको इकट्ठा करने वाला मन ही जब नहीं रहा, तो फिर ये किस तरह इकट्ठा होंगे। अब तो बस जो कुछ अतीत का लेन-देन है, उसी का समाप्त होना बाकी रह जाता है। कुछ भी नये की कोई गुंजाइश या उम्मीद नहीं रहती है।

इस सत्य को हम इस तरह भी अनुभव कर सकते हैं कि हम असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा वृक्ष तो मिटा देते हैं। यहाँ तक कि उसकी जड़ें भी खोद देते हैं। फिर भी जो बीज धरती पर पड़े रह गये हैं, वे तो अभी फूटेंगे। ज्यों-ज्यों उनका मौसम आयेगा, वे अंकुरित होते चलेंगे। असम्प्रज्ञात समाधि के बावजूद जीवन और मरण का चक्र तो बना ही रहता है। हाँ, यह जरूर है कि जीवन की गुणवत्ता भिन्न होती है। लेकिन जन्म तो लेना ही पड़ेगा, क्योंकि बीज अभी जले नहीं है। जो व्यक्त था, वह तो कट चुका, परन्तु जो अव्यक्त है, वह तो अभी भी बाकी है। असम्प्रज्ञात समाधि सबीज समाधि है। इन बीजों के कारण योग साधक का जन्म होता है, जो अद्भुत होता है।

विदेह एवं प्रकृतिलय पाते हैं-अद्भुत अनुदान

श्रद्धा अनूठी सेतु है। हृदय में यह प्रगाढ़ हो, तो देश एवं काल की दूरियाँ भी सिमट जाती हैं। लोक-लोकान्तर के सत्य पलक झपकते ही भाव चक्षुओं के सामने आ विराजते हैं। दिव्य लोकों में तपोलीन ऋषि सत्तायें भी हृदयाकाश में प्रत्यक्ष होकर मार्गदर्शन देती हैं। यह उद्‌गार मात्र एक काल्पनिक विचार भर नहीं, एक जीवन्त अनुभूति है। महर्षि पतञ्जलि एवं ब्रह्मर्षि परम पूज्य गुरुदेव का सूक्ष्म सहचर्य भी यह अनुभव करा सकती है, जिसके बाद अन्तर्यात्रा का यह पथ आनंद से कट जाता है।

साधकों को योगानंद का अनुभव करा रहे महर्षि पतंजलि अब बताते हैं कि असम्प्रज्ञात समाधि किसे उपलब्ध होती है? वे कहते हैं-

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १/१९॥

शब्दार्थ - **विदेहप्रकृतिलयानाम्** = विदेह एवं प्रकृतिलय योगियों का (उपर्युक्त योग); **भवप्रत्ययः** = भव प्रत्यय (जन्म होने से ही सहज प्राप्त) कहलाता है।

अर्थात् विदेहियों और प्रकृतिलयों को असम्प्रज्ञात समाधि सहज ही उपलब्ध होती है। क्योंकि अपने पिछले जन्म में उन्होंने अपने शरीरों के साथ तादात्म्य बनाना समाप्त कर दिया था। वे फिर से जन्म लेते हैं, क्योंकि इच्छा के बीज बने रहते हैं।

विदेह एवं प्रकृतिलय बड़े ही सौन्दर्यपूर्ण शब्द हैं। इनमें आध्यात्मिक भावों का अवर्णनीय सौन्दर्य समाया है। इनमें से विदेह का अर्थ है-जो जान लेता है कि अब वह देह नहीं है। यह अनूठी स्थिति उसे असम्प्रज्ञात समाधि के बाद ही उपलब्ध होती है। असम्प्रज्ञात समाधि की विभूतियाँ तो उसे पिछले जन्म में ही प्राप्त हो चुकी। इस जन्म में तो वह प्रारम्भ से

ही असम्प्रज्ञात का वैभव धारण किये हुए जन्मता है। उसे जीवन की शुरुआत से ही इस सत्य का सम्पूर्ण बोध होता है कि वह देह नहीं है। देह तो उसने सिर्फ इसलिए धारण की है कि पिछले कर्मों का हिसाब-किताब बराबर करना है। पिछले कर्म बीजों को नष्ट करना है। कर्मों का सारा खाता बराबर करना है। ऐसे विदेह योगियों का जन्म तो बस समाप्त हो रहे हिसाबों से बना होता है। हजारों जन्म, अनगिन सम्बन्ध, बहुत सारे उलझाव और वादे, हर चीज को समाप्त करना है।

प्रकृतिलय की अवस्था और भी उत्कृष्ट है। प्रकृतिलय योगी का देह से नाता टूटने के साथ प्रकृति के साथ भी तादात्म्य नहीं रहता। ऐसे योग साधकों के लिए न तो देह का कुछ महत्त्व और न ही संसार का। इनके लिए न कोई अभिव्यक्ति और न ही संसार है। ऐसे योगी बस एक बार जन्म लेते हैं। उनके इस जन्म का कारण बस इतना होता है कि उन्हें अपने वचन पूरे करने हैं, बहुत सारे कर्म गिरा देने हैं। सारा पिछला बेबाक करना है। वे तो बस देते हैं, माँगते नहीं-चुकाते हैं। प्रकृतिलय योगियों की कोई भी चाहत नहीं होती। उन्हें भला चाहत कैसे हो सकती है? वे तो बस अपने दिये हुए वचनों को निभाने आते हैं। अपने किन्हीं कर्म बीजों को नष्ट करने के लिए देह धारण करते हैं।

परम पूज्य गुरुदेव ऐसे महान् योगियों में महर्षि रमण का नाम लेते हैं। गुरुदेव के अनुसार महर्षि को बचपन से ही प्रकृतिलय अवस्था प्राप्त हुई। देह से उनका तादात्म्य तो जैसे था ही नहीं। किशोरावस्था के लगभग जब उन्हें मृत्यु का अनुभव हुआ, तब तो उनकी दशा नितान्त भिन्न हो गयी। ऐसी भावदशा उन्हें उपलब्ध हुई कि न तो दैहिक तादात्म्य रहा और न ही प्रकृति तथा संसार का कोई नाता बचा। सत्तरह वर्ष की अवस्था में ही वह तिरुवलामल्लाई तप के लिए आ गये। उनके तप का प्रारम्भ इस जिज्ञासा से हुआ कि मैं कौन हूँ? क्यों देह नहीं हूँ, प्रकृति भी नहीं हूँ, यह सत्य उन्हें सदा से प्रत्यक्ष था। अब तो बस यात्रा को आगे बढ़ाना था। सो उन्होंने प्रयत्नपूर्वक यात्रा आगे बढ़ाई। सहज ही आत्मबोध हुआ, साथ ही

कर्मबीज भी समयानुसार नष्ट होते गये। महर्षि रमण के तप के प्रभाव से समूचा देश भी प्रभावित एवं प्रकाशित हुआ।

विदेह एवं प्रकृतिलय अवस्था प्राप्त महायोगियों का जीवन कई अर्थों में विलक्षण व अद्भुत होता है। इस सम्बन्ध में **भगवान् बुद्ध** के जीवन की एक घटना बड़ी ही भाव भरी है। निर्वाण के अनुभव के बाद भी भगवान् तथागत मौन थे। मगध सम्राट् के साथ अन्य कई राज्यों के नरेश उनसे प्रार्थना कर चुके थे कि वे कुछ बोलने की कृपा करें। निर्वाण के परम अनुभव के बारे में बतायें। परन्तु भगवान् हर बार यह कहकर टाल जाते कि अभी ठीक समय नहीं आया। एक दिन अचानक तथागत ने घोषणा की कि वह पंचशाल गाँव में अपना पहला प्रवचन करेंगे। सम्राटों के आग्रह को अस्वीकार कर एक सामान्य गाँव में प्रवचन। और इस गाँव में वैसे भी कुछ ही झोपड़ियाँ थी। तथागत की घोषणा से गाँव के लोग तो जैसे उद्वेलित हो गये।

हर्ष एवं आश्चर्य से उद्वेलित-उत्तेजित गाँव के लोगों के बीच भगवान् बुद्ध प्रवचन हेतु पहुँच गये। सभी तैयारियाँ जैसे-तैसे पूरी की गयी। परन्तु भगवान् को जैसे अभी भी किसी की प्रतीक्षा थी। तभी एक हरिजन युवती आयी और बुद्ध ने प्रवचन प्रारम्भ किया। प्रवचन की समाप्ति के बाद लोग पूछने लगे-क्या आप इसी युवती का इन्तजार कर रहे थे? बुद्ध मुस्कराये और बोले-हाँ, मुझे इसी की प्रतीक्षा थी। मैंने इसे पिछले जन्मों की यात्रा में वचन दिया था कि महाबोधि का प्रथम अनुभव मैं सर्वप्रथम इसे बताऊँगा। बस वह वचन पूरा करना था। सो आज पूरा हुआ। 'असम्प्रज्ञात को उपलब्ध' व्यक्ति इसी भावदशा में जीता है, यह भावदशा जन्मान्तर की साधना के अलावा प्रयत्नपूर्वक भी इस जीवन में पायी जा सकती है।

इस जन्म में भी प्राप्य है-असम्प्रज्ञात समाधि

अन्तर्यात्रा के प्रयोगों को पूरे यत्न एवं गहराई के साथ अपनाने वाले साधकों के न केवल बाह्य जीवन में, बल्कि आन्तरिक जीवन में परिष्कार इस कदर होता है कि दूर संवेदन, पूर्वाभास जैसे तथ्य उनकी जिन्दगी का सहज हिस्सा बन जाते। बोध की सूक्ष्मता इस कदर बढ़ती है कि उनकी साधना के समय होने वाले अन्तदर्शन में दिव्य लोकों का वैभव सहज झलकने लगता है। यहाँ तक कि अध्यात्म जगत् की विभूतियों के रूप में लोक विख्यात महर्षियों के संकेत एवं संदेश स्वयमेव प्राप्त होने लगते हैं।

इस पथ पर चल रहे साधक अपने व्यावहारिक जीवन में पारस्परिक सामञ्जस्य, सम्बन्धों में सजल संवेदनाओं का विकास, कार्यकुशलता एवं कार्यक्षमता में अचरज करने जैसी प्रगति अनुभव करते हैं। तब और अब में आकाश-पाताल जैसा अन्तर दिखाई पड़ने लगता है। सच्चाई यही है कि योग साधना व्यक्ति का सम्पूर्ण व समग्र विकास करती है। व्यक्तित्व के सभी आयामों को परिष्कृत कर उनकी अचरज भरी शक्तियों को निखारती है। आन्तरिक जीवन एवं बाह्य जीवन का कायापलट कर देने वाला चमत्कार इससे सहज सम्भव होता है।

साधक चाहे तो क्या नहीं कर सकता। ऐसा नहीं कि जिन्होंने अपने पिछले जन्म में विदेह या प्रकृतिलय अवस्था प्राप्त कर ली, उन्हीं को यह असम्प्रज्ञात समाधि उपलब्ध होगी। सम्भावनाएँ उनके लिए भी हैं, जिन्होंने अभी इसी जन्म में, अपनी साधना का प्रारम्भ किया हैं, उनके लिए भी सम्भावनाओं के द्वार खुले हैं। पर किस तरह ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥ १/२०॥

शब्दार्थ-इतरेषाम् = दूसरे साधकों का (योग)। **श्रद्धावीर्य स्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकः** = श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक सिद्ध होता है।

अर्थात् दूसरे जो असम्प्रज्ञात समाधि को उपलब्ध होते हैं, वे श्रद्धा, वीर्य (प्रयत्न), स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा उपलब्ध होते हैं।

यह सूत्र महर्षि पतंजलि के सभी सूत्रों से कहीं अधिक मूल्यवान् है। हालाँकि दूसरों सूत्रों में भी गहरी चर्चा है, गहन चिन्तन है। इन सूत्रों में साधना के, साध्य के एवं सिद्धि के अनेकों रहस्य खुलते हैं, लेकिन इस पर भी जो बात इस सूत्र में है, वह कहीं और नहीं है, क्योंकि इस सूत्र में अपने जीवन की चरम सम्भावनाओं को साकार करने वाला सहज मार्ग बता दिया गया है। बुद्धत्व को प्रकट करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया इस एक सूत्र में ही समझा दी गई है। बड़ी ही स्पष्ट रीति से महर्षि पतंजलि कहते हैं कि तुम भी, हाँ और कोई नहीं तुम ही, जो इन क्षणों में इस सूत्र की व्याख्या को पढ़ रहे हो इस सूत्र को पकड़कर बुद्ध बन सकते हो, पतंजलि बन सकते हो, युगऋषि आचार्य श्री के जीवन के सार को अनुभव कर सकते हो।

बस इसके लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एवं प्रज्ञा को अपने में जगाना होगा। ध्यान रहे, यह जागरण क्रम से होता है। जो श्रद्धावान् है, वही अगले क्रम में वीर्यवान् होगा। वीर्यवान्, स्मृतिवान् बनेगा। और स्मृतिवान् क्रमिक रूप से समाधि के सत्य को जानेगा और प्रज्ञा को उपलब्ध होगा। योग जीवन का, साधना जीवन का सबसे पहला तत्त्व श्रद्धा है। श्रद्धा शब्द से प्रत्येक अध्यात्म प्रेमी परिचित हैं। श्रद्धा के बारे में पर्याप्त कहा-सुना एवं पढ़ा-लिखा जाता है। लेकिन यह शब्दोच्चार भर पर्याप्त नहीं है। जरूरत कुछ ज्यादा की है। श्रद्धा का सत्य एवं मर्म जब तक जिन्दगी में नहीं उतरता, तब तक बात नहीं बनेगी। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव कहते थे- श्रद्धा अस्तित्व के गहनतम क्षेत्र कारण शरीर में जन्मती एवं पनपती है। श्रद्धा के तरंगित होने पर समूचा अस्तित्व तरंगित होता है। जिसके प्रति श्रद्धा है- उसके प्रति समूचा व्यक्तित्व, अपना सारा अस्तित्व अपने आप ही उमड़ने लगता है। सार रूप में श्रद्धा का प्रारम्भ समग्र समर्पण का प्रारम्भ है। इसकी चरम परिणति में साधक का अस्तित्व स्वयं ही साध्य में विलीन हो जाता है। साधना के प्रति श्रद्धा का जन्म होते ही वीर्य अर्थात् साहसिक प्रयत्न प्रारम्भ हो जाते हैं। श्रद्धा हुई

इसकी पहचान भी यही है। निष्क्रिय, निठल्ली एवं निकम्मी भावनाओं को कभी भी श्रद्धा का नाम नहीं दिया जा सकता।

यदा-कदा यह भी देखा जाता है कि श्रद्धा के नाम पर लोग अपने आलस्य को प्रश्रय देते हैं, पर यथार्थ स्थिति इसके विपरीत है। श्रद्धा व्यक्ति में चरम साहस को जन्म देती है। युगऋषि गुरुदेव के शब्दों में यह चरम साहस ही वीर्य है। गुरुदेव के अनुसार साधना के सन्दर्भ में वीर्य का सच्चा अर्थ यही है। जो परम साहसी नहीं है, वह साधक नहीं हो सकता। रक्त की बूँद तक, प्राण के अन्तिम कण तक, जीवन के अन्तिम क्षण तक जो साहस करते हैं, वही सच्चे साधक होने का गौरव हासिल करते हैं। ऐसे प्रयत्न से ही स्मृति का जागरण होता है। मालूम पड़ता है, अहसास जगता है कि मैं कौन हूँ। पहले यह स्मृति धुंधली हल्की होती है। परन्तु साधक के साहसिक प्रयत्न ज्यों-त्यों सघन होते जाते हैं, त्यों-त्यों स्पष्ट रीति से स्मृति जगने लगती है।

ध्यान रहे, स्मृति का अर्थ याददाश्त तक सिमटा नहीं है। स्मृति का अर्थ तो होश जगना है। स्वयं अपने बारे में सार्थक अहसास होना है। अस्तित्व की गहराइयों में अपने सच्चे स्वरूप की झलक मिलना है। यह झलक साधना को प्रगाढ़ करती है। साधक के प्रयत्नों में और भी तीव्रता एवं त्वरा पैदा होती है। स्मृति की झलकियों में जब मन तदाकार होने लगता है, तब समाधि प्रस्फुटित होती है। यह भावदशा है, जब साधक अपनी साधना में पूरी तरह डूब जाता है। साधक, साधना एवं साध्य तीनों आपस में घुल-मिल जाते हैं। यही से जीवन रूपान्तरित होना शुरू होता है। अन्तरतम में बदलाव के स्वर फूटते हैं। समाधि में साधक की चेतना समग्र, सम्पूर्ण एवं प्रकाशित होती है और इसी बिन्दु पर प्रज्ञा प्रकट होती है। बोध के स्वर जन्म लेते हैं। सत्य समझ में आता है। जन्म-जन्मान्तर के बन्धन खुलते हैं। वासना-तृष्णा-अहंता तीनों ही ग्रन्थियाँ खुलने लगती है। बड़ी ही अपूर्व अवस्था है यह।

❖❖❖❖❖❖

तीव्र प्रयासों से मिलेगी, समाधि में सफलता

समाधि की अवस्था को पाने के लिए पूर्व वर्णित तत्वों एवं सत्यों का जीवन में तीव्रतर होते जाना जरूरी है। सारा सुफल इस तीव्रता का ही है। महर्षि कहते हैं-

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ १/२१ ॥

शब्दार्थ- तीव्रसंवेगानाम् = जिनके साधन की गति तीव्र है, उनकी (समाधि); **आसन्नः** = शीघ्र (सिद्ध) होती है।

अर्थात् समाधि की सफलता उनके निकटतम होती है, जिनके प्रयास तीव्र, प्रगाढ़ और सच्चे होते हैं।

महर्षि के इस सूत्र में अनगिनत योग साधकों की सभी शंकाओं, समस्याओं, संदेहों एवं जिज्ञासाओं का समाधान है। इन पंक्तियों को पढ़ने वाले साधकों के मन में कभी न कभी यह बात अंकुरित हो जाती है कि इतने दिन हो गये साधना करते, बरस बीत गये गायत्री जपते, अथवा साल गुजर गये ध्यान करते, पर कोई परिणाम नहीं प्रकट हुआ। वह बात नहीं पैदा हुई जो सारे अस्तित्व को झकझोर कर कहें कि देखो यह है साधना का चमत्कार और जब ऐसा नहीं होता है, तो कई परमात्मा पर ही शक करने लगते हैं। मजे की बात यह है कि उन्हें अपने पर शक नहीं होता- मेरी साधना में कहीं कोई भूल तो नहीं? नाव ठीक नहीं चलती, तो मेरी पतवारें गलत तो नहीं है? दूसरा किनारा है या नहीं, इस पर संदेह होने लगता है।

मगर ध्यान रहे, जिस नदी का एक किनारा है, दूसरा दिखाई पड़े या न पड़े, होगा ही, बल्कि है ही। कोई नदी एक किनारे की नहीं होती। उस दूसरे किनारे का नाम समाधि है, इस किनारे का नाम संसार है। संसार और समाधि के किनारों के बीच जीवन की यह अन्तःसलिला, यह गंगा बह रही है। अगर ठीक से नाव चलाई जाय, सही ढंग से साधना की जाय, तो समाधि निश्चित है।

परम पूज्य गुरुदेव इस बारे में एक कहानी सुनाते थे। एक साधु थे बनारस में, नाम था **हरिबाबा**। उनके एक शिष्य ने उनसे पूछा कि मैं बहुत जप-तप करता हूँ, पर सब अकारण जाते हैं। भगवान् है भी या नहीं मुझे संदेह होने लगा है। हरिबाबा ने इस बात पर जोर का ठहाका लगाया और बोले- चल मेरे साथ आ, थोड़ी देर गंगा में नाव चलायेंगे और तेरे सवाल का जवाब भी मिल जायेगा।

बाढ़ से उफनती गंगा में हरिबाबा ने नाव डाल दी। उन्होंने पतवार उठाई, पर केवल एक। नाव चलानी हो तो दोनों पतवारें चलानी होती हैं, पर वह एक ही पतवार से नाव चलाने लगे। नाव गोल-गोल चक्कर काटने लगी। शिष्य तो डरा-पहले तो बाढ़ से उफनती गंगा उस पर से गोल-गोल चक्कर। वह बोला-अरे आप यह क्या कर रहे हैं, ऐसे तो हम उस किनारे कभी भी न पहुँचेंगे। हरिबाबा बोले- तुझे उस किनारे पर शक आता है या नहीं? शिष्य बोला-यह भी कोई बात हुई, जब यह किनारा है तो दूसरी भी होगा। आप एक पतवार से नाव चलायेंगे, तो नाव यूँ ही गोल चक्कर काटती रहेगी। यह एक दुष्चक्र बनकर रह जायेगी।

हरिबाबा ने दूसरी पतवार उठा ली। अब तो नाव तीर की तरह बढ़ चली। वह बोले-मैं तुझसे भी यही कह रहा हूँ कि तू जो परमात्मा की तरफ जाने की चेष्टा कर रहा है-वह बड़ी आधी-अधूरी है। एक ही पतवार से नाव चलाने की कोशिश हो रही है। आधा मन तेरा इस किनारे पर उलझा है, आधा मन उस किनारे पर जाना चाहता है। तू आधा-आधा है। तू बस यूँ ही कुनकुना सा है। जबकि साधना में साधक की जिन्दगी खौलती हुई होनी चाहिए।

गुरुदेव कहते थे- साधना भी और वासना भी, बस आधा-आधा हो गया। यह आधापन छोड़ना ही पड़ेगा। साधना करनी है, तो पूरी साधना करो। तीव्र, प्रगाढ़ और सच्ची। साधक की साधना धुएँ से घुधुँआती आग नहीं, धधकती हुई ज्वालाएँ होनी चाहिए। साधना जिस किसी तरह न करके उसे तीव्रतम और प्रचण्डतम होना चाहिए। कुछ इस तरह जैसा कि शायर ने कहा है-

लज्जते-काम और तेज करो
तल्खि-ए जाम और तेज करो
जेरे दीवार आँच कम-कम है
शोला-ए बाम और तेज करो
उस तपिश को जो खूँ रुलाती है
सहर-ओ-शाम और तेज करो
परा-तक्पीले-पुख्ताकशी-ए शौक
हवसे-खाम और तेज करो
हम पे हो जाये खत्म नाकामी
सई-ए नाकाम और तेज करो
ज्वदा खुद ही है साजिशे खमो पेच
साजिशे गाम और तेज करो
सुस्त-गामी हमें पसन्द नहीं
रक्से अय्याम और तेज करो
गर्दिशे वक्त ले न डूबे कहीं
गर्दिशे-जाम और तेज करो॥

बड़ी ही प्रेरणाप्रद हैं ये पंक्तियाँ। जो इसके मूल को नहीं समझ पा रहे हैं, उनके लिए इसका संक्षिप्त भाव है कि अपने प्रयासों में तेजी लाओ, समग्रता लाओ। अगर इच्छा की है, तो इच्छा के स्वाद को और तीव्र करो। अगर उस तरफ बढ़े ही हो, तो फिर डरो मत तिक्त स्वाद से। उन्माद की परिपक्वता के लिए-पागलपन पूरा होना चाहिए। कच्ची चाहत से काम चलने वाला नहीं है; चाहत पक्की होनी चाहिए। भला ऐसे धीरे-धीरे क्या चलना? एक पाँव इधर, तो एक पाँव उधर। समय के नृत्य को और तेज करो। अब समय ज्यादा नहीं है, चूको मत- जल्दी करो तेजी लाओ। साधना अपनी पूरा त्वरा पर ही होनी चाहिए। सौ डिग्री पर पानी उबलता है, तो भाप बन पाता है। साधना भी जब सौ प्रतिशत होती है, तो अहंकार विलीन हो जाता है। सम्पूर्णता में पहुँचना ही होगा। इसके सिवा कोई अन्य मार्ग नहीं है।

❖❖❖❖❖❖

चाहत नहीं, तड़प जगे

योग के मार्ग पर नया-नया चलना आरम्भ किये साधकों के लिए यह समाधि का महाद्वार खुल जाना सहज नहीं है। उनकी कतिपय आदतें, अतीत के संस्कार, पुरातन प्रवृत्तियाँ यह स्थिति पनपने नहीं देती। उनमें चाहत तो जगती है, लेकिन थोड़े ही दिनों में धूमिल और धुँधली होकर बिखर जाती है। ऐसों को समाधान कैसे मिले ? इस यक्ष प्रश्न के समाधान में महर्षि बताते हैं-

मृदुमध्याधिमात्रात्वात्ततोऽपिविशेषः ॥ १/२२ ॥

शब्दार्थ- मृदुमध्याधिमात्रत्वात्= साधना की मात्रा हलकी, मध्यम और उच्च होने के कारण; **ततः**= तीव्र संवेग वालों में; **अपि**= भी; **विशेषः**= (काल का) भेद हो जाता है।

अर्थात् योग साधना के प्रयास की मात्रा मृदु, मध्यम और उच्च होने के अनुसार सफलता की सम्भावना अलग-अलग होती है।

इस सूत्र में कई उलझी हुई गुत्थियों का समाधान है। जो साधक हैं, साधना करते हैं, उनके लिए इस समाधान को जानना जरूरी है। इस समाधान की पहली बात यह है कि साधना के लिए अपने आप का समग्र नियोजन जरूरी है। आधे-अधूरेपन से, ढीले-ढाले ढंग से काम चलने वाला नहीं है; पर साथ ही एक आश्वासन भी है। यह आश्वासन उनके लिए है, जिनकी साधना में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। जिनकी मनोभूमि अभी समग्र रूप से साधना के लिए नियोजित नहीं हुई है। ऐसे साधक जिनकी साधना कभी हल्की चलती है, तो कभी उसकी गति मध्यम हो जाती है। फिर कभी यकायक उसमें तीव्रता आ जाती है। इस उलट-पुलट की स्थिति से गुजरने वालों को महर्षि भरोसा दिलाते हैं कि द्वार तुम्हारे लिए भी खुलेंगे, पर इसमें समय लग सकता है।

यह साधना की गति के अनुसार ही होगा। इस संदर्भ में परम पूज्य गुरुदेव का एक कथन बड़ा ही बोधप्रद है। एक बार परस्पर की चर्चा में किसी शिष्य ने उनसे जानना चाहा कि गुरुदेव साधना से सिद्धि के बीच कितने समय का फासला है। उन्होंने जवाब दिया- बेटा! यह तो फासला तय करने वाले पर निर्भर है। इसी के साथ उन्होंने उससे एक प्रतिप्रश्न किया- अच्छा, चल तू यह बता कि हरिद्वार से रामेश्वरम् कितनी देर में पहुँचा जा सकता है। पास बैठे शिष्य ने कहा- गुरुदेव लगभग तीन-चार दिन लग सकते हैं। बस-ट्रेन बदलते हुए इतना समय तो लग ही जाएगा। क्यों, यह समय कम-ज्यादा भी तो हो सकता है। इस वाक्य के साथ ही उन्होंने अपनी बात का खुलासा किया। यदि अपना सफर हवाईजहाज या हेलीकाप्टर से तय करें, तो यह समय अपने आप ही कम हो जाएगा। इसके विपरीत यदि सफर पैदल तय किया जाय, तो यह समय कई गुना बढ़ जाएगा।

सुनने वाले को गुरुदेव की बात का मर्म समझ में आ गया। पर अभी वह इसे और भी स्पष्ट करना चाहते थे। सो उन्होंने कहा- बेटा! साधना से सिद्धि का सफर इस पर निर्भर करता है कि साधना के कर्म, विचार व भाव में त्वरा एवं तीव्रता कितनी है। जिनकी गति मन्द है, उनके लिए यह फासला जन्मों लम्बा हो सकता है। जिनकी गति मध्यम है, वे घिसते, पिटते जीवन के अन्तिम छोर में सिद्धि के दर्शन कर पाएँगे। पर कुछ ऐसे भी महावीर, परम पराक्रमी होते हैं, जो अपने विचार एवं भाव तीर की तरह बना लेते हैं और इन्हें कर्म के धनुष पर चढ़ाकर इस गति से लक्ष्य की ओर बढ़ाते हैं कि सिद्धि मिलने में देर नहीं लगती। ऐसों के लिए जीवन का हर पल, हर क्षण, हर कर्म, हर विचार, हर भाव साधना का ही पर्याय बन जाता है। इनके लिए कुछ भी-कहीं भी असम्भव नहीं है। जो सच्चे साधक हैं, वे इस सच्चाई को अनुभव करते हैं कि गुनगुने-गुनगुने होकर रहने का नाम तप नहीं है। यह तो खौलते हुए, उबलते हुए जीने का नाम है। ऐसे व्यक्ति अपने स्थूलता जीवन की सीमाएँ लाँघ कर पलक झपकते सूक्ष्म व कारण के द्वार खोल लेता है।

परम पूज्य गुरुदेव की इन बातों को सुनकर सुनने वाले को **स्वामी विवेकानन्द** के जीवन की एक घटना का स्मरण हो आया। स्वामी जी अपने एक भाषण में बता रहे थे कि यदि कोई अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का समग्र नियोजन कर सके, तो छह मास के भीतर आत्मज्ञान पाया जा सकता है। इस भाषण को सुनने वाले अनेकों थे। सभी ने इस वाक्य को अपने-अपने ढंग से सुना। कइयों ने तो इसे सुनकर भी अनसुना कर दिया। एक व्यक्ति ऐसा भी था, जिसे इस वाक्य में महावाक्य का बोध नजर आया। वह उठकर खड़ा हुआ और बोला- स्वामी जी, इज़ इट पासिबल ? स्वामी जी का उत्तर था- यस इट इज़।

बस, उसने वहीं खड़े-खड़े उन्हें प्रणाम किया। और उस प्रवचन सभा से अपने कदम बढ़ाए। उसके मुख मण्डल पर संकल्प एवं समर्पण का मिश्रित तेज था। इस तेज को उस समय स्वामी जी को छोड़कर कोई नहीं देख पाया। दूसरों ने जो देखा, वह केवल इतना भर था कि वह व्यक्ति फिर अगले दिनों प्रवचन सभाओं में दिखाई नहीं पड़ा। रोज आने वाले लोग उसे भूल भी गए। इस क्रम में छह मास कब बीते पता ही न चला। हाँ, इस अवधि के बीतते-बीतते वह स्वयं एक दिन आ पहुँचा। अब की बार उसके मुख का आत्म ज्योति प्रकाशित थी। उसे देखते ही स्वामी जी ने उसे अपनी बाँहों में ले लिया और बोले- स्टर्डी, आफ्टर ऑल यू डिड दिस। हाँ स्वामी आपके आशीष से यह हो सका—**ई.टी. स्टर्डी** का उत्तर था। तो आपकी साधना से सिद्धि की समय अवधि आप पर निर्भर है।

समर्पण से सहज ही मिल सकती है-सिद्धि

सिद्ध योगियों द्वारा अपनाये गये इस पथ पर प्रकाश ही प्रकाश है। प्रकाशित पथ पर भी अन्धी आँखों वाले ठोकर खाते रहते हैं। यह अड़चन तब आती है-जब अपने आँखें तो होती हैं, पर पथ पर अँधेरा होता है। ऐसी स्थिति में बस भटकन ही गले पड़ती है।

वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन में तीन आँखों की जरूरत पड़ती है। इसमें पहला नेत्र है-आध्यात्मिक जीवन के प्रति निष्कपट जिज्ञासा। ऐसी जिज्ञासा वाले ही इस पथ पर चलने के लिए उत्सुक होते हैं। दूसरा नेत्र है-प्रचण्ड संकल्प। ऐसा संकल्प जगने पर ही अन्तर्यात्रा पर पहला कदम पड़ता है। यात्रा अविराम रहे, इसके लिए तीसरे नेत्र यानि भावभरी श्रद्धा की जरूरत पड़ती है।

भावभरी श्रद्धा के महत्त्व को अन्तर्यात्रा विज्ञान के महानतम वैज्ञानिक महर्षि पतंजलि भी स्वीकारते हैं। यह सत्य है कि संकल्प की ऊर्जा जिसकी जितनी है, वह उसी क्रम में अपनी साधना में सफल होगा। महासंकल्पवान् प्रचण्ड संकल्प के धनी अपने साधना पथ पर तीव्र गति से चलने में समर्थ होते हैं। संकल्प की इस ऊर्जा का स्रोत साधक का सूक्ष्म शरीर होता है। जिसका सूक्ष्म शरीर जितना प्रखर और पवित्र होता है, उसके संकल्प उतने ही ऊर्जावान् होते हैं। लेकिन इसके अलावा भी एक मार्ग है-क्या? इस प्रश्न के समाधान में महर्षि कहते हैं-

ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ १/२३॥

शब्दार्थ-वा= इसके सिवा; **ईश्वरप्रणिधानात्**=ईश्वर प्रणिधान से भी (समाधि में सफलता मिल सकती है)।

अर्थात् सफलता उन्हें भी उपलब्ध होती है, जो ईश्वर के प्रति समर्पित होते हैं।

महर्षि का यह सूत्र 'गागर में सागर' की तरह है। रत्नाकर कहे जाने

वाले सागर में जितने रत्न भण्डार है, वे सभी इस सूत्र की गागर में है। ईश्वर समर्पण में बड़े ही गहन भाव समाये हैं। साधक इनके विस्तार का इसी से अनुमान कर सकते हैं कि आध्यात्मिक जगत् की दो महादुर्लभ विभूतियों महर्षि शाण्डिल्य एवं देवर्षि नारद ने इन पर अलग-अलग सूत्र लिखे हैं। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र एवं नारद भक्ति सूत्र इन दोनों ग्रन्थों का आध्यात्मिक साहित्य में अनूठा स्थान है। यदि सार-संक्षेप में स्थिति बयान करें तो ये दोनों ही सूत्र ग्रन्थ-महर्षि पतंजलि के इस सूत्र की सरस व्याख्या भर है। यदि भगवान् महाकाल-परम बोधमय गुरुदेव की करुणा हुई, तो जिज्ञासु इस सत्य पर अनुभव भविष्य में कर सकेंगे।

अभी यहाँ पर तो इस सूत्र के विज्ञान का विवेचन ही अपेक्षित है। ईश्वर प्रणिधान या प्रभु को भावभरा समर्पण साधक की सघन श्रद्धा से ही सम्भव होता है। श्रद्धा है, तो ही समर्पण की बात बनेगी। श्रद्धा के अभाव में भला समर्पण की सम्भावनाएँ कहाँ। श्रद्धा और समर्पण ये दोनों ही आध्यात्मिक साहित्य में सुपरिचित शब्द हैं, परन्तु कम ही साधक होंगे, जो इनकी वैज्ञानिक स्थिति से परिचित होंगे। जबकि इनके विज्ञान को जानने वाला ही श्रद्धा के आध्यात्मिक प्रयोग कर सकता है। इस वैज्ञानिक प्रक्रिया से अपरिचित व्यक्ति के लिए 'श्रद्धा' या तो केवल एक शब्द है अथवा फिर कोरी भावुकता का दूसरा नाम।

परम पू. गुरुदेव ने अपनी व्यक्तिगत चर्चाओं के क्रम में एक दिन बताया था कि श्रद्धा वह अलौकिक तत्त्व है, जिससे पल-पल चमत्कार घटित होते हैं। एक शिष्य की जिज्ञासा में उन्होंने कहा-श्रद्धा क्या है? कैसी है? इसे लोग जानते ही कहाँ हैं बेटा! बस खाली जबान से श्रद्धा-श्रद्धा रटते रहते हैं, इसकी सच्चाई से कहाँ कोई वाकिफ है! यह सच्चाई समझ में आ जाये, तो फिर बाकी क्या बचता है। सब कुछ अपने आप ही हो जाता है। महायोगी परम पू. गुरुदेव के शब्दों में कहें, तो जिस प्रकार संकल्प सूक्ष्म शरीर की ऊर्जा है, उसी प्रकार श्रद्धा कारण शरीर की ऊर्जा की घनीभूत स्थिति है।

साधक जब अपने कारण शरीर पर केन्द्रित होता है, तो श्रद्धा जन्म लेती है। यह स्थिति भावुकता से विपरीत है। भावुकता भावनाओं की चंचल और अस्थिर स्थिति में उठती हैं, जबकि श्रद्धा के जन्मते ही भावनाएँ स्थिर, एकाग्र एवं लक्ष्य परायण होने लगती हैं। श्रद्धा की सघनता के क्रम में ये सभी तत्व बढ़ते हैं। साधक स्मरण रखे कि कारण शरीर हमारी मानवीय चेतना का केन्द्र है। हमारे अस्तित्व का गहनतम तल है। यहाँ संघनित होने वाली ऊर्जा का अन्य सभी तलों की ऊर्जा की अपेक्षा सर्वोपरि महत्त्व है। इसकी सामर्थ्य भी कहीं ज्यादा बढ़ी-चढ़ी है। यहाँ जो हो सकता है, वह कहीं और नहीं हो सकता।

स्थूल शरीर का सम्बन्ध कर्म जगत् यानि कि व्यवहार जगत् है, सूक्ष्म शरीर सीधे विचार जगत् यानि कि चिंतन जगत् से जुड़ा है, जबकि कारण शरीर सीधा महाकारण अर्थात् ब्राह्मी चेतना से है। यहाँ होने वाली हलचलें विचारों एवं कर्मों की दिशा तय करती है। ध्यान रहे, विचार हमें समर्पण के लिए प्रेरित तो कर सकते हैं, परन्तु समर्पण करा नहीं सकते। कर्म और विचार यानि कि स्थूल व सूक्ष्म की सभी शक्तियाँ मिलाकर भी कारण शरीर का मुकाबला नहीं कर सकती, जबकि कारण शरीर में उपजी हलचलें सूक्ष्म व स्थूल यानि कि कर्म व विचारों को अपने पीछे आने के लिए बाध्य व विचार कर सकती है।

यही कारण है कि श्रद्धा व समर्पण परस्पर जुड़े है। सम्पूर्ण श्रद्धा सम्पूर्ण समर्पण को साकार करती है। और यह समर्पण या तो ईश्वर के प्रति होता है अथवा ईश्वरीय भावनाओं के प्रति जिसके साकार व सघन स्वरूप गुरुदेव होते हैं। श्रद्धा अपनी सघनता के अनुक्रम में ब्राह्मी चेतना में घुलने-मिलने लगती है। इस घुलने-मिलने का अर्थ है-ब्राह्मी चेतना के प्रवाह का साधक में प्रवाहित होना। ऐसी स्थिति बन पड़े, तो फिर सभी असम्भव स्वयं ही सम्भव बन जाते हैं। कृष्ण और मीरा का मिलन इसी तल पर हुआ था। श्री रामकृष्ण माँ काली से चेतना के इसी सर्वोच्च शिखर पर मिले थे। ऐसा होने पर समाधि सहज सम्भव होती है। क्योंकि जो प्रभु अर्पित है-जो ईश्वर की शरण में हैं, उनके लिए सब कुछ भगवान् स्वयं करते हैं। समाधि तो इस क्रम में बहुत ही सामान्य बात है। ❖❖

ऐसा है, वह घट-घट वासी

महर्षि पतंजलि और गुरुदेव के स्वरों में आमंत्रण के मधुर गीत मुखरित हैं। यह आमंत्रण उनके लिए है, जो अन्तर्यात्रा पथ पर चलने के लिए उत्सुक हैं। अपने आपसे इसी समय पूछिए कि क्या आपमें यह उत्सुकता है? यदि जवाब हाँ है, तो महर्षि पतंजलि एवं ब्रह्मर्षि गुरुदेव आपकी अंगुली थामने के लिए तैयार हैं। ये महायोगिराज आपकी अन्तर्यात्रा को सुगम करने के लिए प्रत्येक सरंजाम जुटाएँगे। बस आपमें श्रद्धा और साहस की सम्पदा होनी चाहिए। ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा कुछ आप में है, तो ही आप आमंत्रण के इन गीतों को सुन पाएँगे। तभी इन गीतों की स्वर लहरियाँ आपकी अन्तर्भावना में प्रभु प्रेम का रस घोलेंगी। ऐसा होने पर ही आपकी अन्तर्चेतना में जागरण का महोत्सव मनाया जा सकेगा।

जीवन को महोत्सव बनाने वाले भगवान् की शरण में जाने के लिए उनकी स्पष्ट धारणा जरूरी है। साधक के मन में यह प्रश्न सदा से कौंधता रहा है—उन सर्वेश्वर का स्वरूप क्या है? इस सवाल के जवाब में महर्षि अगला सूत्र कहते हैं-

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः
पुरुषविशेष ईश्वरः॥ १/२४॥

क्लेशकर्मविपाकाशयै= क्लेश, कर्म, विपाक और आशय- इन चारों से, **अपरामृष्टः** = जो सम्बन्धित नहीं है (तथा), **पुरुषविशेषः** = जो समस्त पुरुषों में उत्तम है, वह **ईश्वरः** = ईश्वर है।

अर्थात् ईश्वर सर्वोत्कृष्ट है। वह दिव्य चेतना की वैयक्तिक इकाई है। वह जीवन के दुःखों से तथा कर्म उसके परिणाम से अछूता है।

अध्यात्म विज्ञान के महावैज्ञानिक महर्षि पतंजलि ईश्वर को बड़ी स्पष्ट रीति से परिभाषित करते हैं। यह परिभाषा साधकों के लिए आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है। क्योंकि यह ऐसा शब्द है, ऐसा सत्य है

जिसके बारे में ज्यादातर लोग भ्रमित हैं। शास्त्र, पुराण, धर्म, मजहब सबने मिलकर ईश्वर की अनेकों धारणाएँ गढ़ी है। कोई तो उसे सातवें आसमान में खोजता है, तो कोई मन्दिरों, पूजागृहों में ढूँढता है। कोई उसकी कल्पना मानवीय रूप में करता है, तो कोई आकार विहीन मानता है। बड़ी जहमत है-किसे कहें सही और किसे ठहराएँ गलत। सामान्य जनों की बात तो जाने दें, अध्यात्मवेत्ताओं तक का मन इस बारे में साफ नहीं है। वे भी कई तरह की भ्रान्तियों में उलझे हैं।

महर्षि पतंजलि अपने इस सूत्र में सभी की सभी तरह की भ्रान्तियों का एक साथ निराकरण करते हैं। वह कहते हैं कि पहले तो ईश्वर को किसी व्यक्तित्व में न बाँधो। वह सभी बन्धनों से मुक्त है। व्यक्तित्व के लिए जो पर्सनल्टी शब्द है, वह यूनानी शब्द पर्सोना से आया है। यूनान के गुजरे जमाने में वहाँ नाटक मण्डलियों में अभिनेता अपने चेहरों पर एक मुखौटा लगाया करते थे। इन मुखौटों को कहते थे 'पर्सोना' यानि वह चेहरा जो दिखावटी है, जिसे हम ओढ़े रहते हैं। विचार करने पर इस सम्बन्ध में कई मजेदार बातें सामने आएँगी। उदाहरण के लिए जब हम दूसरों के साथ कार्यालय में या कहीं और व्यवहार करते हैं, तो स्थिति कुछ और होती है। पर जब हम अपने बाथरूम में होते हैं, रात सोते समय बिस्तर पर होते हैं, तो स्थिति बदली हुई होती है।

योगिवर कहते हैं कि ईश्वर ऐसे बदलते मुखौटों में बँधा नहीं है। वह पुरुषोत्तम है, पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ है। और साथ ही चेतना की एक परम पवित्र अवस्था। यह अवस्था ऐसी है, जिसे न तो क्लेश छू पाते हैं, न कर्म और न विपाक तथा न ही आशय। इन सभी से ईश्वरीय चेतना अछूती है। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय ये क्या हैं ? अच्छा हो इन सबको हम महर्षि के सूत्रों की भाषा में ही जानें। तो पहले स्थान पर है क्लेश। इसका विस्तृत ब्योरा पतंजलि ने दूसरे पाद के तीसरे सूत्र से नवे सूत्र तक दिया है। उन्होंने इस प्रकरण में पाँच क्लेश गिनाये हैं- १. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष एवं ५. अभिनिवेश। ये पाँचों क्लेश हम सभी को कभी न कभी व्यापते हैं। परन्तु ईश्वर को इनमें से कोई क्लेश छू भी नहीं सकता।

जहाँ तक कर्म की बात है, तो महर्षि ने अपने योग सूत्र के चतुर्थ पाद के ७ वें सूत्र में इसकी चर्चा की है। वह कहते हैं कि कुल चार तरह के कर्म होते हैं- १. पुण्य कर्म, २. पाप कर्म, ३. पुण्य एवं पापमिश्रित कर्म एवं ४. पुण्य एवं पाप से रहित कर्म। ईश्वरीय चेतना कभी भी, किसी भी तरह इन कर्मों से लिप्त नहीं होती। इन चारों प्रकार के कर्मों में कोई भी कर्म उसे छू-पाने में समर्थ नहीं होते। तीसरा क्रम विपाक का है। विपाक यानि कि कर्मों का फल। तो जब कर्म ही नहीं तो कर्मों का फल कहाँ? कर्म के लिए किसी फल की पहुँच ईश्वर तक नहीं है। ये तो बस जीवों को ही बाँधते हैं। इस कर्म विपाक के स्वरूप की चर्चा महर्षि पतंजलि ने द्वितीय पाद के १३ वें सूत्र में की है।

चौथे क्रम में आशय है। महर्षि के अनुसार कर्म संस्कारों के समुदाय का नाम आशय है। इसकी व्याख्या योगसूत्र के द्वितीय पाद के १२ वें सूत्र में मिलती है। यह आशय ही जीवात्मा को बाँधता है। उसको यत्र-तत्र घसीटता फिरता है। उसकी परिस्थितियों एवं मनःस्थिति में बदलाव के सारे सरंजाम आशय के द्वारा ही जुटते हैं। इसी से हँसने-रोने की स्थिति बनती है। यह न हो तो फिर आनन्द ही आनन्द है। ईश्वर इससे अछूता रहने के कारण आनन्द का परम स्रोत है। सामान्य जीवों को इन चारों के बंधन में बँधना पड़ता है। परन्तु ईश्वर इनसे सर्वथा मुक्त है। इतना ही नहीं जो उसका चिन्तन करते हैं, जो उसमें समर्पित होते हैं, वे सब भी उसी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं।

ईश्वरीय चेतना को जो इस रूप में जानते हैं, वे ही साथ से परिचित होने का सौभाग्य प्राप्त करते हैं। यही नहीं उनका सम्पूर्ण जीवन एक उत्सव का रूप ले लेता है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि नदियाँ, झरने, वृक्ष, बहारें सभी आनन्द मना रहे हैं। एक इन्सान ही चिन्तित-परेशान है। ऐसा सिर्फ इसलिए है क्योंकि वह जीवन को कर्म की भाँति देखता है, जबकि जगत् तो ईश्वर की लीला है। यदि हम उसकी लीला के सहचर हो सके, तो हमारा अपना जीवन अभी इसी क्षण आनन्द का निर्झर बन जाए।

❖❖❖❖❖❖

बाँसुरी बनें, तो गूँजे प्रभु का स्वर

अन्तर्यात्रा के पथ पर मार्गदर्शन करने वाले प्रदीप भी अनोखे हैं। बाहरी जीवन में हम जो यात्रा करते हैं, उसकी रीतियों से हम सभी प्रायः परिचित होते हैं। मंजिल का पता, राह की तैयारी, रास्ते के अवरोध इन सभी की पड़ताल करनी पड़ती है। सभी से परिचित होना होता है। तभी यात्रा सफल होती है। अन्तर्यात्रा में भी बातें तो लगभग यही है, परन्तु यहाँ सब कुछ अपरिचित सा है। जिन्हें देखा नहीं, जिसे जाना नहीं, जो सुना हुआ नहीं है- ऐसा सब कुछ है यहाँ। पथ अपरिचित है, चलना भी अकेले है। शायद इसीलिए इस पथ को प्रकाशित करने वाले प्रदीप भी अनोखे होने चाहिए।

गोस्वामी जी महाराज कहते हैं- **'राम नाम मनि दीप धरू'**। यानि कि राम नाम रूपी मणियों के दीप रखो। सचमुच ही अन्तर्यात्रा पथ को प्रकाशित करने वाले दीपक मणियों के होने चाहिए। जिसमें न तेल की जरूरत है, न बाती की और मिट्टी के दीए का भी यहाँ कोई काम नहीं। मणियों के दीपक तो स्व प्रकाशित होते हैं। ये तो बिना किसी दूसरे की सहायता के पथ को प्रकाशित करते रहते हैं।

मणिदीप रूपी यह ईश्वर कैसे हैं इस विषय में और प्रकाश डालते हुए महर्षि कहते हैं-

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ १/२५॥

शब्दार्थ-**तत्र**= उस (ईश्वर) में, **सर्वज्ञबीजम्**= सर्वज्ञता का बीज (कारण) अर्थात् ज्ञान, **निरतिशयम्** = निरतिशय (सर्वोच्च) है। अर्थात्- ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज अपने उच्चतम विस्तार में विकसित होता है।

यह योग सूत्र साधना का परम रहस्य है। हालाँकि इसमें सब कुछ सरल, सहज एवं स्पष्ट है फिर भी इसे आत्मसात कर लेना विरल है।

इन्सानी फितरत ही कुछ अजीब है। उसे कठिनताएँ, जटिलताएँ लुभाती हैं, ललचाती हैं। सहजता, सरलता को वह प्राय: बेकार समझ लेता है। जीवन की प्रत्येक गतिविधि में, प्रत्येक क्षेत्र में उसे अपने अहं की प्रतिष्ठा करना भाता है। और अहं को प्रतिष्ठता प्राय: कठिनाइयों के बीच ही मिल पाती है। इसी वजह से सहजता को अनावश्यक समझने की भूल की जाती है। इस भूल की वजह से भक्ति पथ पर चलने का विवेक विरले ही साधक जाग्रत् कर पाते हैं। ज्यादातर तो भस्त्रिका, भ्रामरी के चक्करों में ही भ्रमण करते रहते हैं।

योग पथ पर चलने के लिए जितनी भी तकनीकें हैं, उनके शुरूआती दौर में अहंकार को बड़ा रस मिलता है। लेकिन भक्ति मार्ग में ऐसा कोई रस नहीं है। यहाँ अहंता को प्रारम्भ से ही निराश होना पड़ता है। जबकि दूसरे मार्गों में अहंता अन्तिम छोर पर निराश होती है। जब बात योग साधना की हो, तो अहंता को तो निराश होना ही पड़ेगा। पर हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, नादयोग आदि जितनी भी योग विधियाँ हैं, वहाँ शुरूआत में बड़ी विचित्रताएँ हैं। तकनीक की विचित्रता, अनुभूति की विचित्रता, पथ की विचित्रता- बड़े ही विचित्र लोभ यहाँ है। तमाशो से भरी जादूगरी यहाँ पर है। यहाँ पर ऐसा बहुत कुछ है, जहाँ अहंकार को रस मिले। उसे मजा आए। इसीलिए इन सबके लिए उसमें भारी आकर्षण है।

लेकिन ईश्वर भक्ति में ऐसा कोई आकर्षण नहीं है। यहाँ तो पहले ही कदम पर अहंकार को जलना-गलना एवं मरना-मिटना पड़ता है। अहंकार की मौत, **'जो सिर काटे भुईं धरै'** के कबीर वचन यहाँ पर, इस पथ पर पाँव रखते ही सार्थक होते हैं। यही वजह है कि अहंकारी को भक्ति सुहाती नहीं है। उसे यह सब बड़ा अटपटा-बेतुका लगता है। अहंकारी के लिए भक्ति बुद्धिहीनता से भरा क्रियाकलाप है। यहाँ पर उसे हानि ही हानि नजर आती है। पर जो निष्कपट हृदय है, उनके लिए यह परम तृप्ति का मार्ग है। प्रभु में समर्पित, प्रभु में विसर्जित एवं प्रभु में विलीन। इससे बड़ा सुख और भला कहाँ हो सकता है।

ब्रह्मर्षि गुरुदेव स्वयं अपने बारे में कहा करते थे कि लोग मुझे लेखक समझते हैं, ज्ञानी मानते हैं। किसी की नजरों में मैं महायोगी हूँ। पर अपनी नजर में मैं केवल एक भक्त हूँ। अपने गुरु का, अपने भगवान् का निष्कपट भक्त। मैंने अपनी जिन्दगी का कण-कण, क्षण-क्षण, अणु-अणु अपने प्रभु की भक्ति में गुजारा है। मैंने तो स्वयं को बस केवल एक पोली बाँसुरी भर बना लिया। सच तो यह है कि अपने पूरे जीवन में मैंने कुछ किया ही नहीं। बस, प्रभु जो करते रहे, वही होता रहा। मैंने स्वयं को भगवान् के हाथों में सौंप दिया। मेरे जीवन में वही साधना बने, वही साधक और वही साध्य रहे। एक में तीन और तीन में एक, यही गणित मेरे जीवन में इस्तेमाल होती रही।

परम पूज्य गुरुदेव के इस जीवन दर्शन में महर्षि पतंजलि के इस सूत्र की सहज व्याख्या है। ईश्वर में समाकर जीव स्वयं ईश्वर बन जाता है। गुरुदेव कहते हैं, गंगाजल में समा जाने वाले गन्दे नाले को भी लोग गंगाजल कहने लगते हैं। इसमें महिमा गंगा की है और भावभरे समर्पण की। समर्पण करने से केवल क्षुद्रताओं का नाश होता है। केवल दुर्बलताएँ-हीनताएँ तिरोहित होती हैं, मिलता बहुत कुछ है। बस जो यह समझ सके। यह समझ में आने पर एक पल में सब कुछ घटित हो जाता है। जो ईश्वर में समर्पित होते हैं- उनके जीवन का अवसाद उत्सव में रूपान्तरित हो जाता है।

गुरुओं के गुरु हैं-प्रभु

साधक का क्षण-क्षण उत्सव में परिवर्तित करने वाले ईश्वर तत्व का गुह्य रहस्य स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में कहते हैं-

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ १/२६॥

शब्दार्थ - (वह ईश्वर सबके) **पूर्वेषाम्** = पूर्वजों का; अपि = भी; गुरुः = गुरु है; **कालेन अनवच्छेदात्** = क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं है।

अर्थात् समय की सीमाओं के बाहर होने के कारण वह गुरुओं का गुरु है।

इस सूत्र में महर्षि ने मुख्यतया तीन संकेत किए हैं। १. ईश्वर गुरु है। जो अभी तक गुरु विहीन है, वे उन परात्पर प्रभु को अपने गुरु के रूप में वरण कर सकते हैं। २. वे गुरुओं के गुरु हैं। अभी तक सम्पूर्ण सृष्टि में जितने भी सद्गुरु हुए हैं, ईश्वर उन सभी के गुरु हैं। क्योंकि सभी सद्गुरु ईश्वर से ही उपजते, ईश्वर में ही वास करते और उन्हीं परम प्रभु में विलीन हो जाते हैं। ३. ऐसा इसलिए है, क्योंकि वे प्रभु काल की सभी सीमाओं से परे हैं। सच तो यह है कि ईश्वरीय चेतना में काल की सीमाएँ ही विलीन हो जाती हैं।

ये तीन बातें आध्यात्मिक जगत् के तीन रत्न हैं। जो इनके रहस्य को जान जाता है- वह योग के सत्य को पा लेता है। ईश्वर को गुरु के रूप में बताकर महर्षि साधकों को गुरु की गरिमा को बोध कराना चाहते हैं। ईश्वर गुरु है और गुरु ईश्वर है। इस सुपरिचित सत्य से बहुधा साधक अपरिचित रहते हैं। इसी के साथ एक बात और भी देखी जाती है कि कई बार ईश्वरत्व में विलीन हुए बगैर भी कई लोग अपने आपको गुरु के रूप में प्रचारित करने लग जाते हैं।

युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव इस सम्बन्ध में कहते थे कि दरअसल गुरु तीन तरह के होते हैं। इनमें से पहली श्रेणी है—शिक्षक की, जो बौद्धिक ज्ञान

देता है। इसके पास तर्कों का जादू होता है, शब्दों का मायाजाल होता है। बोलने में प्रवीण ऐसे लोग कई बार अपने आप को गुरु के रूप में भी प्रस्तुत कर लेते हैं। उनके कथा-प्रवचन, उनकी लच्छेदार वाणी अनेकों को अपने प्रति आकर्षित करती है। ऐसों का मन्तव्य एक ही होता है कि ज्यादा से ज्यादा लोग उन्हें मानें, उनकी सुनें, उन्हें पूजें, उनके प्रति श्रद्धा करें। श्रद्धा का सन्दोहन करने वाले ऐसे गुरुओं की आज कमी नहीं है।

ऐसे ही एक गुरु की कथा गुरुदेव सुनाते थे। उसे यहाँ प्रस्तुत करने का मन है। उच्च शिक्षित ये गुरु एक ख्यातिनामा संस्था के संचालक थे। देश-विदेश में उन्हें प्रवचन के लिए आमंत्रित किया जाता था। आमंत्रित अतिथि के रूप में ये एक बार विदेश में किसी पागलखाने में गए। वहाँ उन्हें सुनने वालों में कर्मचारियों एवं चिकित्सकों के साथ पागलखाने के पागल भी थे। प्रवचन करते समय इन गुरु महोदय का उस समय भारी अचरज हुआ जब उन्होंने देखा कि पागलखाने के सारे पागल उन्हें बड़े ध्यान से सुन रहे हैं। कर्मचारी एवं चिकित्सकों का सुनना तो उन्हें स्वाभाविक लगा, पर पागलों का इस तरह से सुनना.... ? आखिर इसमें रहस्य क्या है ?

इस खोज में उन गुरु ने पागलखाने के अधीक्षक से अपनी जिज्ञासा कही। और उनसे निवेदन किया कि आप जरा इन पागलों से पूछकर तो देखिए कि इन्हें मेरी क्या बात पसन्द आयी। उनके निर्देशानुसार अधीक्षक ने पागलों से बात की और उनके पास आए। बताइए न क्या बातें हुई- गुरु महोदय में भारी उत्सुकता थी। अधीक्षक ने थोड़ा हिचकिचाते हुए बोला- महोदय! आप मुझे क्षमा करें, ये सभी पागल यह कह रहे थे कि ये प्रवचन करने वाले तो बिल्कुल हम लोगों जैसे हैं, फर्क सिर्फ इतना है कि हम लोग यहाँ भीतर हैं और ये बाहर घूम रहे हैं।

गुरुदेव ने इस हास्य कथा को सुनाते हुए कहा था कि आज के दौर में ज्यादातर गुरुओं की यही स्थिति है। दूसरी श्रेणी के गुरु वे होते हैं, जिन्हें भगवान् अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त करता है। इस श्रेणी में रमण महर्षि, श्री अरविन्द, सन्त गुरजिएफ आदि महापुरुष आते हैं। स्वयं

गुरुदेव की चर्चा भी इस कोटि में की जा सकती है। ये सब ईश्वरीय चेतना में निवास करते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में इनका शरीर भगवान् का घर होता है। भगवान् ही इनके शरीर के माध्यम से कार्य करता है।

तीसरी श्रेणी में ईश्वर स्वयं गुरु होते हैं। अपनी देह विसर्जित करके ब्राह्मी चेतना में विलीन महापुरुष भी इस कोटि में जा पहुँचते हैं। यह स्थिति सभी कालों से परे होती है। क्योंकि ब्राह्मी चेतना की परम भावदशा में काल का अस्तित्व लोप होता है। ईश्वर इसी परम भावदशा का नाम है। जिन साधकों ने उन्हें इस रूप में जान लिया, वे भी उसी स्थिति में जा पहुँचते हैं। अपने गुरु को ईश्वर के रूप में जानकर भी यह स्थिति पायी जा सकती है, वस्तुत: तब प्रयास स्वत:स्फूर्त होने लगते हैं।

ॐकार को जाना, तो प्रभु को पहचाना

अन्तर्यात्रा अचेतन की परतों में चेतनता की स्फूर्ति लाती है। यह एक ऐसा सच है, जिसकी समग्र बौद्धिक व्याख्या तो सम्भव नहीं है, लेकिन इसकी सम्पूर्ण अनुभूति बड़ी सहज है। जो अन्तर्यात्रा में संलग्न हैं, वे सब यही कहते हैं। अनुभव कहता है कि अन्तर्यात्रा का पथ अनगिन रहस्यों से भरा है। इस पथ पर कुछ दूर चलने पर एक ऐसा नया अनजान मोड़ जाता है कि सब कुछ बदला नजर आता है। सारे नजारे बदल जाते हैं। मनःस्थिति ही नहीं, परिस्थिति भी अपना एक नया रूप सामने लाती है।

ऐसे में यदा-कदा ही नहीं बल्कि बहुधा इस यात्रा के अवरुद्ध होने की घटना घटती है। अन्तर्यात्रा के इस दौर में चलने वाले पाँव थकते ही नहीं, बहकते भी हैं। पथ की थकान एवं पाँवों के बहकावे से बचना-उबरना आसान नहीं होता है। सच्चे योग साधक कब योगभ्रष्ट हो जाएँगे कोई ठिकाना नहीं। ऐसी स्थिति में एक ही उपाय है- परमात्मा के प्रति अविचलित श्रद्धा, प्रभु के नाम के प्रति अडिग निष्ठा।

प्रभु के सामने साधक भी बालक ही है। वह जानना चाहता है कि प्रभु को किस नाम से जानें? किस तरह से उसका स्मरण करें? इसकी चर्चा महर्षि अपने अगले सूत्र में करते हैं। वह इसमें कहते हैं-

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १/२७॥

शब्दार्थ- तस्य= उस (ईश्वर का); **वाचकः** = वाचक (नाम); **प्रणवः** = प्रणव (ॐकार) है।

अर्थात् उसे 'ॐ' के नाम से जाना जाता है।

महर्षि ने इस सूत्र में बताया है कि 'ॐ' है नाम प्रभु का। इस ॐ में उतने ही रहस्य हैं, जितने कि स्वयं प्रभु में है। ॐ को जान लिया, तो समझो स्वयं प्रभु को पहचान लिया। वेद, पुराण, उपनिषद् सभी एक स्वर

से ओम् की महिमा का गान करते हैं। जो नाम का स्मरण करते हैं, उन्हें अपने आप ही नामी का परिचय मिल जाता है। प्रभु के नाम का स्मरण साधना की सबसे सरल किन्तु प्रभावकारी है। इस रीति से भी योग के शिखर तक पहुँचा जा सकता है। समाधि की सिद्धि पायी जा सकती है। नाम की रटन, नाम की लगन, नाम की धुन, नाम का ध्यान में यदि मन रम जाए, तो समझो कि साधना से सिद्धि का द्वार खुल गया।

गोस्वामी जी महाराज ने अपनी मंत्रमय कृति रामचरित मानस में इस नाम महिमा की बड़ी विस्तृत विवेचना की है। बालकाण्ड के दोहा क्रमांक १८ से दोहा क्रमांक २७ तक इस प्रकरण को बड़े भक्तिपूर्ण ढंग से उकेरा गया है। २८ चौपाइयों का यह प्रसंग भक्तों के मन को सब भाँति मोहने वाला है। जिन्हें प्रभु के नाम की महिमा के यथार्थ के बारे में तुलसी बाबा की अनुभूति को जानने की जिज्ञासा है, उन्हें बालकाण्ड के नाम महिमा के प्रसंग को अवश्य पढ़ना चाहिए। हम तो यहाँ विस्तारभय के कारण तुलसी बाबा की केवल एक चौपाई को उद्धृत करना चाहेंगे। जिसमें वह कहते हैं-

अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते।
किए जेहिं जुग निजबस बूते॥

अर्थात्- परम ब्रह्म परमेश्वर के दो ही स्वरूप है- निर्गुण और सगुण। प्रभु के ये दोनों ही रूप अकथनीय, अथाह, अनादि एवं अनुपम हैं। गोस्वामी जी कहते हैं कि मेरी सम्मति में नाम इन दोनों से ही बड़ा है। क्योंकि इसने अपने बल से दोनों को वश में कर रखा है। अर्थात् नाम साधना से प्रभु के दोनों रूपों का ज्ञान सहज ही हो जाता है।

प्रभु के पावन नाम के इस प्रसंग में ब्रह्मर्षि परम पूज्य गुरुदेव के अमृत वचनों का स्मरण हो रहा है। उन्होंने ये बातें अपनी निजी चर्चा में कही थीं। बात योग साधना की चल रही थी। गुरुदेव सदा की भाँति अपने पलंग पर बैठे थे। प्रश्नकर्त्ता उनके चरणों के समीप एक टाट के टुकड़े पर

बैठा हुआ थ। उसने जिज्ञासा की कि वह प्रभावकारी योग साधना किस तरह से करे? इस जिज्ञासा के समाधान में गुरुदेव ने कहा—बेटा! इन दिनों प्राण अन्तगत है। लोगों के दैनिक काम-काज का भी कोई ठीक नहीं है। कठिन, कठिन आसन, प्राणायाम, बन्ध मुद्राओं का अभ्यास करके ईश्वर तत्त्व की अनुभूति करना आज के दौर में सुलभ नहीं है।

शरीर चिकित्सा के लिए कुछ समय के लिए आसन-प्राणायाम या बन्ध, मुद्रा का अभ्यास करना अलग बात है और इन क्रियाओं से कुण्डलिनी जागरण, चक्रबेधन, सहस्त्रार सिद्धि एकदम अलग बात है। गुरुदेव बोले- ऐसा करने के चक्कर में ज्यादातर लोग रोगी हो जाते हैं। वायु कुपित होने के कारण उन्हें अनेकों शारीरिक, मानसिक परेशानियाँ घेर लेती हैं। तब फिर रास्ता क्या है गुरुदेव? पूछने वाले ने निराश स्वर में कहा। क्योंकि उसे गुरुदेव की बातों से लगने लगा था कि योग साधना के लिए वह सत्पात्र नहीं है। उसके लिए यह सब दूर की कौड़ी है। यह ऐसा आकाश कुसुम है, जिसे वह कभी भी नहीं पा सकता।

उसकी इस निराशा को तोड़ते हुए गुरुदेव बोले- एक उपाय है बेटा! गुरुदेव के इन वचनों से प्रश्नकर्त्ता के निराश मन में आशा संजीवनी का संचार हुआ। उसने आतुरता से पूछा कौन सा? वह बोले- भगवान् के नाम का स्मरण। यह ऐसी साधना है, जिसे तुलसी, मीरा, सूर, रहीम, रसखान, कबीर, रैदास आदि अनगिनत भक्तों को योग सिद्धि प्राप्त हुई। नाम साधना के कारण ही उन्हें भगवान् का सहचर्य मिला। भगवान् उनके साथ रहे। सच तो यह है, नाम साधना से बड़ी कोई दूसरी साधना है ही नहीं। पर बहुतेरे लोग इसे आसान समझकर यूँ ही छोड़ देते हैं और उलटी-पलटी साधनाओं के चक्कर में उलझ कर बाद में मदद के लिए करुण पुकार करते हैं।

यदि जान सकें जप की कला

अन्तर्यात्रा विज्ञान साधकों के लिए पुकार है। पुकार के ये स्वर बड़े आश्चर्यों से भरे हैं। इन्हें सब नहीं सुन सकते। इन्हें सुन पाने के लिए साधक का अन्त:करण चाहिए। जिनमें साधक की अन्तर्चेतना, साधक की अन्तर्भावना है- वही इन्हें सुन पाएँगे। उन्हीं को अपने अस्तित्व के मर्म में महर्षि पतंजलि एवं ब्रह्मर्षि परम पूज्य गुरुदेव की छुअन महसूस होगी। वही अपने आपको इन महायोगियों की वरद छाया में अनुभव कर पाएँगे। उन्हीं को इन महान् विभूतियों का नेह-निमंत्रण सुनायी देगा। योग न तो लौकिक ज्ञान है और न ही कोई सामान्य सांसारिक विद्या है। यह महान् आध्यात्मिक ज्ञान है और अतिविशिष्ट परा विद्या है। वाणी से इसका उच्चारण भले ही किया जा सकता हो, पर इसके अर्थ बौद्धिक चेतना में नहीं खुलते। इसके रहस्यार्थों का प्रस्फुटन, तो गहन भाव चेतना में होता है।

अन्तर्यात्रा के पथ पर उन्हीं को प्रवेश मिलता है, जो साधक होने की परीक्षा पास करते हैं। अपनी पात्रता सिद्ध करते हैं। हालाँकि इस सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि परम उदार हैं। उन्होंने अन्तर्यात्रा के पथ के पथिकों के लिए अनेकों वैज्ञानिक अनुसन्धान किए हैं। अनगिनत तकनीकें खोजी हैं। इन तकनीकों में से किसी एक का इस्तेमाल करके कोई भी व्यक्ति इस पात्रता की परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है। इन्हीं तकनीकों में से एक है- ॐकार का जप। ॐकार में अनगिनत गुह्य निधियाँ, गुह्य शक्तियाँ समायी हैं। यदि इसका विधिपूर्वक जप हो, तो योग की सभी बाधाओं का बड़ी आसानी से निराकरण किया जा सकता है। प्रभु की महिमा, गरिमा सभी कुछ बीज रूप में इसमें निहित है। यह बीज विकसित कैसे हो, प्रस्फुटित किस भाँति हो? इसका विधान महर्षि अपने अगले सूत्र में बताते हैं-

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ १/२८॥

शब्दार्थ- तज्जपः= उस (ॐकार का) जप (और), **तदर्थभावनम्**= उसके अर्थ स्वरूप परमेश्वर की भावना के साथ करना चाहिए।

अर्थात् ॐकार का जप इसके अर्थ का चिन्तन करते हुए परमेश्वर के प्रति प्रगाढ़ भावना के साथ करना चाहिए।

महर्षि ने इस सूत्र में जप की विधि, जप के विज्ञान का खुलासा किया है। मंत्र को दोहराने भर का नाम जप नहीं है। केवल दोहराते रहना एक अचेतन क्रिया भर है। यह साधक को चैतन्यता देने की बजाय सम्मोहन जैसी दशा में ले जाती है। जो केवल मंत्र को दुहराते रहते हैं, उन्हें परिणाम में सम्मोहन, निद्रा मिलती है। हाँ यह सच है कि इससे थकान मिटती है। जगने पर थोड़ी स्फूर्ति भी लगती है। किन्तु यह जप का सार्थक परिणाम नहीं है। इसका सार्थक परिणाम तो जागरण है। चेतना की परम जागृति है।

परम पूज्य गुरुदेव मंत्र विद्या के परम ज्ञाता थे। मंत्र विज्ञान के सूक्ष्म अन्तर-प्रत्यान्तरों के विशेषज्ञ-मर्मज्ञ थे। उनका कहना था कि मंत्र साधना के तीन आयाम हैं। पहला- मंत्र का मन ही मन अथवा अति धीमे स्वर में उच्चारण। दूसरा, इसका अर्थ अनुसन्धान। यह अर्थ अनुसन्धान, अर्थ चिन्तन से कहीं अधिक सूक्ष्म तत्त्व है। इसमें साधक क्रमिक रूप से अर्थ की गूढ़ता व रहस्यमयता में प्रवेश करता है। और उसकी अन्तर्चेतना में मंत्र के नए रहस्यार्थ प्रकट होते हैं। इसका तीसरा आयाम है- प्रगाढ़ भावना। यानि कि मंत्र के अधिदेवता के प्रति साधक के मन-अन्तःकरण में भक्ति की हिलोरे उठनी चाहिए। ये तीनों तत्त्व परस्पर गुँथे रहे, तो ही मंत्र की सार्थक साधना बन पड़ती है।

गुरुदेव मंत्र साधना की इन बारीकियों को बताते हुए नरपतगढ़ के महान् सिद्ध सन्त **स्वामी कृष्णबोधानन्द** के साधना प्रसंग सुनाते थे। वह कहते थे कि कृष्णबोधानन्द जी मंत्र विद्या के महान् ज्ञाता थे। उन्होंने गायत्री महामंत्र की पुरश्चरण साधनाओं के साथ अन्य मंत्रों की साधनाएँ भी सम्पन्न की थी। कई वैदिक, तांत्रिक, पौराणिक, जैन, बौद्ध एवं इस्लामिक मंत्र उन्होंने सिद्ध किए थे। मंत्रविद्या की साधना एवं अनुसन्धान उनका प्रिय कार्य क्षेत्र था। गुरुदेव के अनुसार इन महान् आत्मा का उनके साथ वर्षों का संग साथ रहा।

मंत्र साधना के बारे में ये कई प्रेरक बातें बताते थे। इन बातों में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि गायत्री महामंत्र के पाँच पुरश्चरण कर लेने पर अन्य मंत्रों की साधना में सफलता सुनिश्चित हो जाती है। जिसने भी गायत्री मंत्र की विधिपूर्वक साधना कर ली, वह किसी भी धर्म के किसी भी मंत्र की साधना कर सकता है, सिद्धि पा सकता है। कृष्णबोधानन्द जी का अपने अनुभव के आधार पर कहना था कि यदि धर्म, मजहब, जाति-देश आदि की संकीर्ण मान्यताएँ दरकिनार कर दी जाएँ और एक विज्ञानवेत्ता की भाँति निष्कर्ष प्रतिपादित किया जाय, तो यही कहना होगा कि गायत्री मंत्र विश्व भर के सभी मंत्रों का सार है।

इस सम्बन्ध में कृष्णबोधानन्द जी के अनुभव का एक अन्य निष्कर्ष भी था। वह कहा करते थे कि सन्ध्योपासना गायत्री में लय होती है और गायत्री का लय ओम् सहित व्याहृतियों (ॐ भूर्भुवः स्वः) में होता है। और अन्त में ये व्याहृतियाँ ॐ में लय हो जाती हैं। साधना करते-करते यह ॐकार साधक के सम्पूर्ण अस्तित्व में प्रकाशित हो जाता है। यही नहीं साधक का अस्तित्व भी ॐकार में विलीन हो जाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की सभी अवस्थाओं में विलीनता तुरीय अवस्था में हो जाती है।

गुरुदेव बताते थे कि विश्व भर के विभिन्न धर्मों, मतों, पंथों में बताए हुए अनगिनत मंत्रों की साधना करने वाले एवं इनकी सिद्धि पाने वाले कृष्णबोधानन्द जी अद्‌भुत व्यक्ति थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में केवल ॐकार ही इनके जीवन में रह गया था। ॐकार का अर्थ चिन्तन एवं ध्यान ही इनके जीवन का पर्याय था। ये महापुरूष अपने शरीर में केवल एक टाट का टुकड़ा भर लपेटते थे। वे कहते थे कि ॐकार ही सूर्य है, यही गायत्री है, यही वेद है। मंत्र जप के प्रभाव से वृद्धावस्था में भी इनका शरीर सभी व्याधियों से मुक्त होकर एक अनोखी आभा बिखेरता था जिसे जो भी देखता, एक अलौकिक चुम्बकत्व से बँध जाता था।

आत्मसाक्षात्कार का साधन जप

मंत्र जप के विषय में बाबा कबीर कहते हैं- **माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख मांहि। मनुवां तो चहुँ दिशि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥** यानि कि माला तो हाथ में घूमती रहती है और जीभ मुख में घुमती रहती है। मन चारों दिशाओं में घूमता-फिरता है। इस स्थिति को न तो जप कहा जा सकता है और न प्रभु स्मरण।

जप तो मंत्र के शब्दों के साथ विचारों और भावनाओं की एकाग्रता है। जप सकते समय प्रगाढ़ भावनाओं के साथ जो कुछ सोचा-विचारा जाता है, वही घटित होता है। इस सत्य का अनुभव कोई भी अपने जीवन में कर सकता है। बस बात इतनी भर है कि जप करने वाले साधक का जो संकल्प है, उसे उसकी चाहत है, उसके बारे में वह पूरे जप काल में सोचता रहे। इसमें यह भी जरूरी है कि इस सबके साथ उसकी गहरी भावनाएँ जुड़ी हों। यदि ऐसा है, तो समझो कि मंत्र की ऊर्जा से साधक का संकल्प सुनिश्चित रूप से साकार होकर रहेगा। यदि कोई विशेष चाहत नहीं है, तो समझो कि उसकी साधना के समस्त विघ्न स्वयमेव ही समाप्त होते रहेंगे।

इसी सत्य को महर्षि अपने अगले सूत्र में बताते हैं-

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमयोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ १/२९॥

शब्दार्थ-ततः= उक्त साधन से; **अन्तरायाभावः**= विघ्नों का अभाव; **च**= और **प्रत्यक्चेतनाधिगमः**= अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान; **अपि**= भी (हो जाता है)।

अर्थात् प्रभु नाम की जप साधना से साधना की सारी बाधाओं की समाप्ति होती है और आत्म साक्षात्कार हो जाता है।

जो जप साधना को सामान्य समझने की भूल करते हैं, उन्हें बार-बार इस सूत्र पर चिन्तन-मनन करना चाहिए। जो गहरी आस्था, श्रद्धा व सम्पूर्ण मानसिक एकाग्रता के साथ जप करते हैं, उनके लिए जप स्वयं ही सब कुछ कर देता है। ब्रह्मर्षि परम पूज्य गुरुदेव इसकी व्याख्या में एक ऐसे महासाधक का उदाहरण देते थे, जो पहले किसी गम्भीर बीमारी से ग्रस्त थे। पर बाद में वे न केवल निरोगी हुए, बल्कि उन्होंने अध्यात्म तत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इनका संन्यास नाम **स्वामी सर्वानन्द** था। परम पूज्य गुरुदेव से इनकी मुलाकात हिमालय यात्रा के समय हुई। तभी इन्होंने गुरुदेव को अपने जीवन का यह प्रसंग सुनाया।

गुरुदेव बताया करते थे कि स्वामी सर्वानन्द पर माँ गायत्री की महती कृपा थी। वे सदा-सर्वदा माँ के आँचल की छाया में रहते थे। हालाँकि बचपन में इनकी ऐसी स्थिति न थी। ये शारीरिक रूप से दुर्बल एवं बीमार रहा सकते थे। पिता इनके जन्म के साथ ही परलोक सिधार गए थे। माँ पर पालन-पोषण का सम्पूर्ण बोझ था। घर में आय का कोई विशेष साधन न था। इसी वजह से माँ इनका ठीक से इलाज भी न करा पाती थी। बचपन में एक महात्मा इनके घर आए। उन्होंने इनकी दुर्दशा देखी। ये बिछौने में लेटे हुए अपनी मृत्यु का इन्तजार किया करते थे। और माँ शोकाकुल हो आँसू बहाया करती थी। जिन्दगी में सब ओर अँधेरा था। कहीं से कोई आशा की किरण नहीं दिखाई देती थी।

ऐसे में किसी पूर्वकर्मों के संयोग से एक महात्मा इनके घर आए। उन्होंने घर की दुर्दशा देखी। और कृपापूर्वक इनकी माँ को गायत्री महामंत्र बताया। बालक सर्वानन्द को भी उन्होंने गायत्री महामंत्र सिखाया, और बोले- बेटा, तुम इसे जपा करो। इस महामंत्र के स्वरों में तुम जगन्माता भगवती आदिशक्ति गायत्री को पुकारो। पर महाराज यह बालक तो स्नानादि कुछ नहीं कर पाएगा। '**मानसे तु नियम नास्ति**' मानसिक जप में कोई नियम नहीं है बेटी! महात्मा जी ने शास्त्र वचन समझाते हुए उनसे कहा- माँ को पुकारने के लिए कोई नियम नहीं है। तुम तो बस पूरी

विकलता से पुकारो। जब माँ तुम्हें ठीक कर दे, तब तुम विधि सहित नियम पूर्वक उनकी आराधना करना।

क्या मेरा बच्चा ठीक हो जाएगा महाराज ? माँ के इस सवाल पर वे महात्मा हँसे और बोले- जो हमने कहा है, उसे करके देख लो। तुम्हें स्वयं पता चल जाएगा। महात्मा जी के उपदेशानुसार इस छः वर्षीय बालक ने गायत्री महामंत्र का मानसिक जप प्रारम्भ किया। उसके दिन-रात अब गायत्री की रटन में बीतने लगे। महामंत्र की दार्शनिक व्याख्या उसे भले ही मालूम न थी, पर उसकी श्रद्धा में कमी न थी। वह तो बस अपनी माँ को पुकार रहा था। पुकारते हुए उसे छः वर्ष बीत गए। चार वर्षों तक कुछ खास पता न चला। पर छः साल बाद तो वह भला चंगा हो गया।

तेरह वर्ष की आयु में उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। फिर तो गायत्री की सविधि उपासना उसका जीवन बन गयी। चौबीस वर्षों में उसने चौबीस पुरश्चरण कर डाले। इसी बीच उसकी माँ का देहावसान हो गया था। चौबीस पुरश्चरणों की पूर्णाहुति के रूप में उसने संन्यास ले लिया। और उसका नाम हो गया स्वामी सर्वानन्द। हिमालय यात्रा के समय जब गुरुदेव से इनकी मुलाकात हुई, तो उन्होंने अपने जीवन का सच बताते हुए गुरुदेव से कहा- आचार्य जी! साधक को केवल भक्तिपूर्वक जप करना पड़ता है। बाकी उसके जीवन के सभी कार्य जप स्वयं कर देता है। इससे जीवन के आन्तरिक एवं बाहरी विघ्न स्वयं ही समाप्त हो जाती है। जप से उसकी सभी इच्छाएँ स्वयं ही पूरी होती रहती हैं।

मंत्र में छिपी है विघ्न विनाशक शक्ति

अन्तर्यात्रा का विज्ञान मंत्र विज्ञान के बारे में एक अनूठा रहस्य उजागर करता है। भौतिक विज्ञानी कहते हैं कि ध्वनि और कुछ नहीं है सिवाय विद्युत् के रूपान्तरण के। अध्यात्म विज्ञान के विशेषज्ञ योगी जन कहते हैं कि विद्युत् और कुछ नहीं है सिवाय ध्वनि के रूपान्तरण के। यानि कि ध्वनि और विद्युत् एक ही ऊर्जा के दो रूप हैं। और इनका पारस्परिक रूपान्तरण सम्भव है। हालाँकि इस सच को अभी विज्ञानवेत्ता ठीक तरह से अनुभव नहीं कर पाए हैं। लेकिन अध्यात्म विज्ञान के विशेषज्ञों ने इस सच को न केवल स्वयं अनुभव किया है, बल्कि ऐसी अद्भुत तकनीकें भी खोजी हैं, जिसके इस्तेमाल से हर कोई यह अद्भुत अनुभूति कर सकता है।

मंत्र विज्ञान का सच यही है। यह ध्वनि के विद्युत् रूपान्तरण की अनोखी विधि है। हमारा शरीर, हमारा जीवन जिस ऊर्जा के सहारे काम करता है, उसके सभी रूप प्रकारान्तर से जैव विद्युत् के ही विविध रूप हैं। इसके सूक्ष्म अन्तर-प्रत्यन्तर मंत्र विद्या के अन्तर-प्रत्यन्तरों के अनुरूप प्रभावित, रूपान्तरित व परिवर्तित किए जा सकते हैं। मंत्र की प्रयोग विधि का विस्तार बहुत व्यापक है। इन पंक्तियों में उतनी व्यापक चर्चा सम्भव नहीं है। समस्या शारीरिक हो या मानसिक या फिर सामाजिक अथवा आर्थिक मंत्र बल से सभी कुछ सहज सम्भव हो पाता है। यहाँ परिदृश्य योग साधना का है। इस सन्दर्भ में महर्षि योग साधकों को आश्वासन भरे स्वर में कहते हैं कि मंत्र जप से सभी विघ्न स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। ये विघ्न क्या हैं ? इसकी चर्चा योगिवर पतंजलि अपने अगले सूत्र में करते हैं-

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ (१/३०)

शब्दार्थ- (१) **व्याधि** = शरीर अथवा मन में किसी रोग का पनपना व्याधि है। (२) **स्त्यान** = अकर्मण्यता अर्थात् काम न करने की प्रवृत्ति स्त्यान है। (३) **संशय** = साधना की प्रक्रिया व परिणाम तथा स्वयं की क्षमता पर सन्देह करना संशय है। (४) **प्रमाद**= आध्यात्मिक अनुष्ठानों की अवहेलना करना प्रमाद है। (५) **आलस्य** = तमोगुण की अधिकता से चित्त और शरीर का भारी हो जाना और इसके कारण साधना छोड़ देना आलस्य है। (६) **अविरति** = विषय-वासना में आसक्ति होना और इस वजह से वैराग्य का अभाव होना अविरति है। (७) **भ्रान्तिदर्शन** = अध्यात्म साधना को किसी कारण अपने अनुकूल न मानना भ्रान्तिदर्शन है। (८) **अलब्धभूमिकत्व** = साधना करने पर भी यौगिक उपलब्धियाँ न मिलने से निराश होना अलब्धभूमिकत्व है। (९) **अनवस्थितत्व** = साधना में किसी उच्चभूमि में चित्त की स्थिति होने पर भी वहाँ न ठहर पाना अनवस्थितत्त्व है। ये नौ (जो कि) चित्तविक्षेपाः = चित्त के विक्षेप हैं; **ते** = वे ही; **अन्तरायाः** = अन्तराय (विघ्न) हैं।

अर्थात् रोग, अकर्मण्यता, संदेह, प्रमाद, आलस्य, विषयासक्ति, भ्रान्ति, उपलब्धि न होने से उपजी दुर्बलता और अस्थिरता वे बाधाएँ हैं, जो मन में विक्षेप लाती हैं।

महर्षि अपने पहले के सूत्र में कहते हैं कि ये सभी विक्षेप मंत्र जप से समाप्त हो जाते हैं। इस सच को और अधिक स्पष्टता से समझने के लिए प्रत्येक विक्षेप पर विचार करना जरूरी है।

इन विक्षेपों में सबसे पहला है- रोग। योगिवर पतंजलि कहते हैं कि रोग का सही मतलब है- जैव विद्युत् के चक्र का अव्यवस्थित हो जाना। इसके प्रवाह में व्यतिक्रम व व्यतिरेक उठ खड़े होना। जैव विद्युत् की लयबद्धता का लड़खड़ा जाना। यही रोग की दशा है। जीवन में जब-जब ऐसी स्थिति आती है, व्यक्ति रोगी हो जाता है। यदि किसी भी तरह से जैव

विद्युत् के चक्र को ठीक कर दिया जाय, तो रोग भी ठीक हो जाएगा। योगविज्ञान के अलावा वैकल्पिक चिकित्सा की अन्य विधियाँ भी हैं, जो इस सत्य को समझती हैं और इसी विधि से रोग को ठीक करती हैं। इन्हीं विधियों में से एक है- एक्यूप्रेशर व एक्यूपंचर। इस विधि के प्रवर्तकों ने शरीर में सात सौ ऐसे बिन्दु खोज लिए हैं, जिनसे होकर प्राणविद्युत् सम्पूर्ण शरीर में प्रवाहित होती है।

इन केन्द्रों के माध्यम से ही प्राण विद्युत् भौतिक शरीर का स्पर्श करती है। एक्यूपंचर के विशेषज्ञों का कहना है कि रोग के दौरान प्राण विद्युत् के प्रवाह में बाधा पड़ती है और सात सौ में से कई बिन्दु प्राण विद्युत् से विहीन हो जाते हैं और रोग घटता है। इस विद्या के विशेषज्ञ अपनी विधियों से इस चक्र को फिर से पूरा करते हैं। मंत्र विद्या इस सम्बन्ध में कीं अधिक उच्चस्तरीय प्रयास है। मंत्र के माध्यम से एक ओर तो प्राण विद्युत् के चक्र में आने वाली बाधाओं का निराकरण होता है, तो दूसरी ओर साधक को ब्रह्माण्डीय ऊर्जा का एक बड़ा अंश मिलता है।

दूसरा विक्षेप **अकर्मण्यता** का है। दरअसल अकर्मण्यता तभी आती है, जब हममें ऊर्जा का तल बहुत निम्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में ही हम स्वयं को निर्जीव या शिथिल अनुभव करते हैं। मंत्र जप के माध्यम से ब्रह्माण्डीय ऊर्जा प्रवाह को ग्रहण-धारण करके इस ऊर्जा के तल को ऊँचा उठाया जा सकता हैं और अकर्मण्यता को उत्साह में बदला जा सकता है। तीसरा विक्षेप **संशय** का है। निश्चितता, दृढ़ता के विरुद्ध है संशय। इससे मानसिक ऊर्जा कई भागों में बँट जाती है। जो साधक मंत्र का प्रयोग करते हैं, उनके अन्त:करण में संशय का कोई स्थान नहीं रह जाता।

चौथा विक्षेप **प्रमाद** का रूप लेकर आता है। **प्रमाद** हमेशा मन का होता है। यह ऐसी अवस्था है, जिसमें कि मन सम्मोहित जैसा हो जाता है। इसे मन की मूर्छा भी कह सकते हैं। होश गँवाया हुआ मन हमेशा ही प्रमादी

होता है। अर्थ चिन्तन करते हुए किया मंत्र जप मन को होश में लाने का उत्तम उपाय है। यदि मंत्र का जप मंत्र की भावना के साथ किया जा रहा है, तो फिर मन के प्रमादी होने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। हाँ, यदि मंत्र के साथ उसकी भावना जुड़ी हुई न हो, तो फिर यह केवल एक अचेतन क्रिया भर रह जाती है और प्रमाद का सिलसिला चलता रहता है।

आलस्य पांचवा विक्षेप है। इस आलस्य का केवल इतना भर मतलब है कि हमने जीवन के प्रति उत्साह खो दिया है। बच्चे कभी आलसी नहीं होते। वे हमेशा ऊर्जा से भरे होते हैं। यहाँ तक कि उन्हें सोने के लिए मजबूर करना पड़ता है। यदि हमें अपना खोया हुआ उत्साह फिर से पाना है, तो मंत्र के माध्यम से मन की धूल हटानी होगी। तन में फिर से प्राण विद्युत् का प्रबल संचार करना होगा। मंत्र जप यदि ठीक गति से हो रहा है, तो सब कुछ सहज में ही हो जाता है। मंत्र साधक को अपनी साधना से एक नया साहस, एक नया विश्वास उपलब्ध होता है। उसमें यह अनुभूति जगती है कि वह भी कुछ कर सकता है।

विषयासक्ति छठवाँ विक्षेप है। रह-रहकर मन में वासना के ज्वार उठते हैं। कामुकता नयी-नयी कुलाँचे भरती है। क्यों होता है ऐसा ? तो इस सवाल का सहज उत्तर है कि शरीर और मन ने ऊर्जा को काफी इकट्ठी कर ली है, पर उसका न तो सही तरह से खर्च हो पाया और न ही उसका ऊर्ध्वगमन सम्भव हो सका है। इस अप्रयुक्त ऊर्जा को ही सही ढंग से प्रयोग में लाया जाना ही हमें विषयसक्ति से छुटकारा दिलाता है। मंत्र साधना से यह आसानी से सम्भव हो पाता है। ॐकार अथवा इसके विस्तार रूप गायत्री के जप से जीवन की ऊर्जा का रूपान्तरण एवं ऊर्ध्वगमन होने लगता है। मंत्र साधना की निरन्तरता यदि बनी रहे, तो विषयासक्ति के बादल अपने आप ही छंटने लगते हैं।

योग साधना की सातवां विघ्न है **भ्रान्तिदर्शन**। यह खुली आँखों से सपने देखने जैसा है। इन सपनों के कारण हम हमेशा सच से वंचित रह जाते हैं। पतंजलि कहते हैं कि भ्रम तिरोहित हो जाएगा, यदि तुम होशपूर्वक ओम का जप करो। इस जप से जो जागृति आती है, वह सपनों का घोर विरोधी है। सपना हमेशा सोया हुआ और खोया हुआ आदमी देखता है। जाग्रत् व्यक्ति को भ्रान्तियाँ नहीं सताती हैं, मंत्र साधना से ऐसी ही अनूठी जागृति पनपती है।

दुर्बलता योग पथ का आठवाँ विक्षेप है। व्यक्ति कहीं न कहीं, कभी न कभी स्वयं असहाय एवं दुर्बल अनुभव करताहै। दरअसल जब तक विराट् से विलग है, उस सर्वसमर्थ से दूर है, कभी भी सम्पूर्ण समर्थ नहीं हो सकते। मंत्र साधना से यह दूरी, यह अलगाव दूर होता है। मंत्र हमारी चेतना को विराट् ब्राह्मी चेतना से जोड़ता है। सर्व समर्थ प्रभु से एकता सध जाने पर फिर कभी दुर्बलता नहीं सताती। साधना के साथ ही सिद्धि का प्रवाह चल पड़ता है और साध्य नजर आने लगता है।

नवाँ विक्षेप **अस्थिरता** का है। हम शुरूआत करते हैं, कुछ दूर तक चलते हैं फिर छोड़ देते हैं। अस्थिरता के कारण मंजिल तक पहुँचना नहीं हो पाता। हालाँकि हम इसके लिए बहाने बहुत गढ़ते हैं। पर बहाने तो केवल बहाने हैं। कभी परिस्थितियों का बहाना, कभी किसी व्यक्ति का बहाना, कभी कोई दूसरा नया बहाना। पर इस सबके पीछे यथार्थ कारण अस्थिरता ही होती है। मंत्र का जप यदि दृढ़तापूर्वक होता रहे, तो यह अस्थिरता स्वयं अस्थिर होने लगती है और साधक का चित्त हमेशा के लिए इससे मुक्त हो जाता है।

महर्षि पतंजलि के इन अनुभूत वचनों की व्याख्या में ब्रह्मर्षि परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि सभी मंत्रों का मूल ॐकार है। इसी का विस्तार गायत्री है। यह गायत्री योग-साधकों के लिए कल्पवृक्ष एवं कामधेनु है। इसकी कृपा से सब कुछ अनायास हो जाता है। बस, इसकी साधना में

निरन्तरता बनी रहे। निश्चित संख्या, निश्चित समय एवं निश्चित स्थान इन तीन अनुशासनों को मान कर जो तीन पदों वाली गायत्री का जप करता है, उसकी साधना के विघ्न स्वयं ही नष्ट होते रहते हैं। गुरुदेव का कहना था कि गायत्री जप करने वाले को अपने मन की उधेड़बुन या मानसिक उथल-पुथल पर ध्यान नहीं देना चाहिए। यहाँ तक कि मन की ओर देखना ही छोड़ देना चाहिए। बस जप, जप और जप, मन की सुने बगैर जप की अविरामता बनी रहे, तो बाकी सब कुछ अनायास ही हो जाता है।

बहुत बड़ी है आततायी विघ्नों की फौज

महर्षि पतंजलि के सूत्रों को यदि हृदयंगम किया जाए, तो जीवन अनायास ही नए सिरे से गढ़ता चला जाता है। यथार्थ में ये सूत्र जीवन के परिमार्जन, परिष्कार की तकनीकें हैं। कइयों ने इन्हें अपने जीवन के यौगिक रूपान्तरण की विधियों के रूप में अनुभव किया है। महर्षि पतंजलि के सूत्र सत्य को परम पूज्य गुरुदेव ने इस युग में व्यावहारिक कुशलता दी है। गुरुदेव की साधना, इनके प्रायोगिक निष्कर्ष महर्षि के सूत्रों की बड़ी प्रभावपूर्ण व्याख्या करते हैं। यह व्याख्या साधकों को किसी नए विचार अथवा नए तर्क की ओर न ले जाकर सर्वथा नवीन अनुभूति तक ले जाती है।

दूसरी तरफ ईश्वरीय अनुभूति करने में प्रमाद कर रहे लोगों को महर्षि चेतावनी देते हैं कि विघ्नों के क्रम की इति यहीं तक नहीं है। ये और भी हैं। योग साधना के अन्य विक्षेपों का खुलासा करते हुए महर्षि अपना अगला सूत्र प्रकट करते हैं-

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ १/३१ ॥

शब्दार्थ-(१) **दुःख**= आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक- इस तरह के दुःख के मुख्य तौर पर तीन भेद हैं। काम-क्रोध आदि विकारों के कारण होने वाले शरीर व मन की पीड़ा आध्यात्मिक दुःख है। मनुष्य या अन्य जीवों के कारण होने वाली पीड़ा आधिभौतिक दुःख है। ग्रहों के कुपित होने पर या दैवी आपदाएँ आने पर जो पीड़ा होती है, उसे आधिदैविक दुःख कहते हैं। (२) **दौर्मनस्य**= इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में जो क्षोभ होता है, उसे दौर्मनस्य कहते हैं। (३) **अङ्गमेजयत्व**= शरीर के अंगों में कंपकपी होना अंगमेजयत्व है। (४) **श्वास**= बिना इच्छा के ही बाहर की वायु का भीतर प्रवेश कर जाना अर्थात् बाहरी कुम्भक में

विघ्न हो जाना 'श्वास' है। (५) **प्रश्वास**= बिना इच्छा के ही भीतर की वायु का बाहर निकल जाना अर्थात् भीतरी कुम्भक में विघ्न हो जाना 'प्रश्वास' है। ये पाँचों विघ्न, **विक्षेपसहभुवः**= विक्षेपों के साथ-साथ होने वाले हैं।

अर्थात् दुःख, निराशा, कंपकपी और अनियमित श्वसन विक्षेपयुक्त मन के लक्षण हैं।

महर्षि अपने इस सूत्र में अन्तर्यात्रा पथ के पथिक को चिन्तन और अनुभव की गहराई में ले जाना चाहते हैं। इस सूत्र में वे इन पाँचों विघ्नों का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं कि ये विघ्न लक्षण हैं विक्षेपयुक्त मन के। ध्यान रहे, लक्षण बीमारी नहीं होती, बस बीमारी का परिचय भर होता है। जैसे कि बुखार का लक्षण है—शरीर का ताप बढ़ जाना। यानि कि यदि देह का ताप बढ़ा हुआ है, तो बुखार हो सकता है। अब दूसरे क्रम में बुखार भी लक्षण हो सकता है-किसी अन्य बीमारी का। यह अन्य बीमारी मलेरिया, टायफायड या फिर अन्य कोई संक्रमण कुछ भी हो सकती है। बीमारी के सही निदान के लिए हमें लक्षण को भली-भाँति परखकर बीमारी के सही स्वरूप तक पहुँचना होता है। लक्षण हमें केवल बीमारी का परिचय देते हैं। इस परिचय के आधार पर बीमारी का समग्र विश्लेषण और समर्थ उपचार ढूँढना पड़ता है।

महर्षि कहते हैं कि दुःख, निराशा, कंपकंपी एवं अनियमित श्वसन बीमार मन के लक्षण है। यानि कि यदि मन बीमार है, तो ये पाँचों अनुभूतियाँ किसी न किसी तरह से होती रहेंगी। इन लक्षणों में प्रत्येक लक्षण मन की बीमार दशा का बयान करता है। उदाहरण के लिए दुःख-इसका मतलब है कि मन तनाव से भरा है, बँटा-बिखरा है। और यह बँटा-बिखरा मन निराश ही होगा और जो सतत उदास-निराश होता है उसकी जैविक ऊर्जा का परिपथ हमेशा गड़बड़ होता है। ऐसे व्यक्तियों के शरीर में बहने वाली जैव विद्युत् कभी भी ठीक-ठीक नहीं बहती और देह में एक सूक्ष्म कंपकंपी शुरू हो जाती है। और जब प्राण ही कंपायमान है, तो भला श्वास नियमित कैसे होगा? अब यदि इन सभी लक्षणों को दूर

करना है तो उपाय एक ही है कि मन स्वस्थ हो जाय। मन की बीमारी समाप्त हो जाय।

इसके लिए उपाय एक ही है- मंत्र जप। मन यदि मंत्र के स्पर्श में आए अथवा मन में यदि मंत्र स्पन्दित होने लगे तो समझो कि मन की बीमारी ज्यादा देर तक टिकने वाली नहीं है। परम पूज्य गुरुदेव अपनी आध्यात्मिक गोष्ठियों में इस सम्बन्ध में बड़ी अद्‌भुत बात कहते थे। उनका कहना था कि- बेटा, मंत्र मन का इन्जेक्शन है। देह की चिकित्सा करने वाले चिकित्सक देह में इन्जेक्शन लगाते हैं। इस इन्जेक्शन की भी दो विधियाँ हैं- १. मांस पेशियों में लगाया जाने वाला इन्जेक्शन, २. रक्तवाहिनी नलिकाओं में लगाया जाने वाला इन्जेक्शन। चिकित्सक कहते हैं कि पहले की तुलना में दूसरी तरह से लगाया जाने वाला इन्जेक्शन जल्दी असर करता है।

परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि मंत्र ऐसा इन्जेक्शन है, जो मन में लगाया जाता है। इस इन्जेक्शन का प्रयोग मंत्रविद्या के मर्मज्ञ या आध्यात्मिक चिकित्सक करते हैं। इसके प्रयोग के तीन तरीके हैं। १. स्थूल वाणी के द्वारा, २. सूक्ष्म वाणी के द्वारा एवं ३. मानसिक स्पन्दनों के द्वारा। इसमें से पहला तरीका सबसे कम असर कारक है। यदि कोई बोल-बोल कर जप करे, तो असर देर से होता है। इसकी तुलना में दूसरा तरीका ज्यादा असरकारक है। यानि कि जप यदि अस्फुट स्वर में उपांशु ढंग से मानसिक एकाग्रता के साथ किया जाय, तो असर ज्यादा गहरा होता है। इन दोनों तरीकों से कहीं ज्यादा प्रभावशाली है मंत्र जप का तीसरा तरीका कि वाणी पर सम्पूर्णता शान्त रहे और मंत्र मानसिक स्पन्दनों में स्पन्दित होता रहे। इसका असर व प्रभाव बहुत गहरा होता है।

इस अन्तिम तरीके की खास बात यह है कि मंत्र का इन्जेक्शन सीधा मन में ही लग रहा है। मन के विचारों के साथ मंत्र के विचार-स्पन्दन घुल रहे हैं। यदि मंत्र गायत्री है, तो फिर यह असर हजारों-लाखों गुना ज्यादा हो जाता है। इसके प्रभाव के पहले चरण में मन की टूटी-बिखरी लय फिर

से सुसम्बद्ध होने लगती है। मन में मंत्र के अनुरूप एक समस्वरता पनपती है। मानसिक चेतना में मंत्र नए प्राणों का संचार करता है। इसकी शिथिलता-निस्तेजता समाप्त होती है। एक नयी ऊर्जा प्रवाहित होने लगती है। यह प्रक्रिया अपने अगले चरण से प्राणों की खोयी हुई लय वापस लाती है। जैव विद्युत् का परिपथ फिर से सुचारु होता है। और प्राणों की अनियमितता समाप्त हो जाती है।

इस सूत्र की व्याख्या में गुरुदेव कहते थे कि दुःख और निराशा मन के तल पर पनपते हैं। कंपकंपी एवं अनियमित श्वसन प्राणों के तल पर उपजता है। मंत्र जप करने वाले साधक की सबसे पहले मानसिक संरचना में परिवर्तन आते हैं। उसका मन नए सिरे से रूपान्तरित, परिवर्तित होता है। इस रूपान्तरण में दुःख प्रसन्नता में बदलता है और निराशा उत्साह में परिवर्तित होती है। प्रक्रिया के अगले चरण में प्राण बल बढ़ने से कंपकंपी दृढ़ता एवं बल में बदल जाती है। और श्वास की गति धीमी व सम होने लगती है। ये ऐसे दिखाई देने वाले अनुभव हैं- जिन्हें गायत्री मंत्र का कोई भी साधक छहः महीनों के अन्दर कर सकता है। शर्त बस यही है कि गायत्री मंत्र का जप गायत्री महाविज्ञान में दी गई बारह तपस्याओं का अनुशासन मानकर किया जाय। यह हो सका, तो अन्तर्यात्रा मार्ग पर प्रगति का चक्र और तीव्र हो जाएगा।

एक से ही हों एकाकार

योग पथ पर आगे बढ़ते जाना आसान नहीं है। इसमें आने वाले अँधेरे, अड़चनें, मुश्किलें भी जटिल है। हर नया कदम योग साधक के सामने नयी चुनौती खड़ी करता है। इसका सामना करने के लिए नए सूत्र, नयी तकनीकें और नए ढंग की प्रकाश ज्योति चाहिए। अन्तर्यात्रा विज्ञान की हर नयी कड़ी योग साधक की इसी समस्या का सार्थक समाधान है। योग पथ की गहनता के अनुरूप इसके समाधान की क्षमता भी बढ़ती जाती है। योग साधक इसकी अनुभूति अपनी अन्तर्यात्रा में करते हैं। उन्हें पग-पग पर महर्षि पतंजलि की प्रेरणा एवं ब्रह्मर्षि परम पूज्य गुरुदेव के आशीषों की अनुभूति होती है।

जीवन ऊर्जा के चक्र के अव्यवस्थित हो जाने से जन्मे विघ्नों को समाप्त करने का समाधान महर्षि अपने अगले सूत्र में बताते हैं। और यह सूत्र है-

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ १/३२॥

शब्दार्थ-तत्प्रतिषेधार्थम्= उनको दूर करने के लिए; **एकतत्त्वाभ्यासः**= एक तत्त्व का अभ्यास (करना चाहिए)।

अर्थात् उनको (साधना में आने वाले सभी विघ्नों को) दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र अपने अर्थों में अतिव्यापक है। वह इस सूत्र में एक तत्त्व के अभ्यास को सभी विघ्नों के निराकरण के रूप में तो प्रस्तुत करते हैं, परन्तु वह एक तत्त्व क्या हो? इसका चुनाव योग साधक पर ही छोड़ देते हैं। अब यह योग साधक की साधना के स्वरूप, स्तर पर निर्भर करता है कि वह एक तत्त्व के रूप में किसे चुनता है। परन्तु इतना जरूर है कि वह जिसे भी चुने उसी में उसके मन-प्राण घुलने चाहिए। वहीं

पर उनके विचार व भाव केन्द्रित होना चाहिए। यानि कि इस एक तत्त्व को उसके साधना जीवन में चरम आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित होना चाहिए। इसकी स्मृति में उसकी जीवन धारा बहनी चाहिए।

भक्त के जीवन में यह एक तत्त्व उसके भगवान् होते हैं। उसका हृदय सदा अपने आराध्य की स्मृति से स्पन्दित होता है। अपने आराध्य के प्रति उसकी भावनाएँ इतनी सघन होती हैं कि उसे यह अभ्यास करना नहीं पड़ता, बल्कि अपने आप बरबस होता चलता है। ध्रुव हो या प्रह्लाद, मीरा हो या रैदास इनके मन-प्राण, विचार- भावनाएँ सदा अपने भगवान् में रमे रहते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस को माँ कहते ही भाव समाधि घेर लेती थी। सच तो यह है कि भक्तों के लिए बड़ा सहज होता है—अपने भगवान् में रमना। वह अपने भगवान् में इतनी प्रगाढ़ता से रमता है कि सभी अवरोध अपने आप ही विलीन होते जाते हैं।

बात मीरा की करें, तो उनके कृष्ण प्रेम की डगर सहज नहीं थी। इस डगर पर चलने वाली मीरा को राणा जी कभी साँप का पिटारा भेजते थे, तो कभी विष का प्याला, लेकिन इन विघ्नों से मीरा को कभी घबराहट नहीं होती। वह तो सदा यही कहती रहती- 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'। सच तो यह है कि भक्त के जीवन का दर्शन ही 'दूसरो न कोई' है। किसी और का चिन्तन उसे सुहाता नहीं है। तभी तो गोपियाँ ज्ञान सिखाने आए उद्धव को समझाने लगती हैं- 'ऊधौ मन नाहीं दस-बीस, एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस'।

भक्त के लिए बड़ा सजह होता है एक तत्त्व का अभ्यास। क्योंकि वही जानता है 'एक' में छिपा सत्य। बात है तो खरी, पर कहे बिना रहा भी नहीं जाता। प्रेम की रीति तो भक्त ही जानता है। जिसे दुनिया प्रेम, प्यार का नाम देती है, वह तो वासनाओं की गंदेला कीचड़ में लिपटने, लिपटाने के सिवा और क्या है ? देखा यही जाता है कि सारी उम्र प्यार-प्रेम का राग अलापने वाले अपने हठ, जिद एवं अहं को थामे रहते हैं। अब हठ, जिद एवं अहं के विषधरों को पालने वाले भला क्या जानेंगे कि प्रेम तो 'सीस

उतारै भुइँ धरै' का सौदा है। कबीर ने जाना था इस सच को, तभी तो उन्होंने कहा कि **'प्रेम गली अति साँकरी, जामे दुइ न समाहिं'**। यानि कि प्रेम की गली अति सँकरी है, इसमें दो आ ही नहीं सकते।

बड़ा गहरा अर्थ है इस बात में। जो प्रेम में जीता है, वही इस रहस्य को जानता है। जब प्रेम शुरू होता है, तब दो होते हैं, एक भक्त, दूसरा भगवान्। लेकिन भक्त की दीवानगी अपने भगवान् के लिए इतनी गहरी होती है कि अपने आप को मिटाने के लिए ठान लेता है। उसकी कोशिश होती है कि मेरा अस्तित्व भगवान् में विलीन हो जाए। भक्त रहे ही नहीं भगवान् ही बचे। और होता भी यही है कि भगवान् ही बचता है।

भगवान् से प्रेम संसार में बड़ी विरल घटना के रूप में सामने आता है। बड़ी बड़भागी होती है वे आत्माएँ, जो मीरा बनकर प्रकट होती हैं। पर एक प्रेम- एक भक्ति की शुरूआत थोड़ी आसान है। और वह है गुरुभक्ति, अपने गुरु से प्रेम। पतंजलि प्रणीत एक तत्त्व के अभ्यास का यह बड़ा सरल एवं अनुभूत उपाय है। परम पूज्य गुरुदेव ने स्वयं अपने जीवन में यही सच साधा था। आज उनके शिष्यों के सामने भी यही सुपथ है। अपने गुरु का ध्यान, उन्हीं का चिन्तन, उनकी ही कथा, वार्ता और उन्हीं का ही काम। जो ऐसा करते हैं, उनके जीवन में एक तत्त्व का अभ्यास स्वयं ही होने लगता है। और इसके परिणाम स्वरूप योग साधना के विघ्नों का निराकरण भी होता जाता है। यह कथन न तो कोरी कल्पना है, और न ही किसी तार्किकता का निष्कर्ष। यह तो अनुभूति में सनी, पगी बात है, पढ़ने वाले चाहे तो वे भी कर लें। जिस गति से वे इस गुरुभक्ति की डगर पर चलेंगे, उसी तीव्रता से उनकी साधना में आने वाले विघ्नों का शमन होगा। पर यह सच निर्मल चित्त वालों को ही समझ में आएगा।

करुणा कर सकती है–चंचल मन पर काबू

अन्तर्यात्रा विज्ञान हर निर्मल योग साधक की आन्तरिक गुत्थियों को सुलझाता है। उलझे मन के अनेकों धागे इसके जादुई असर से अपने आप सुलझ जाते हैं। अन्तस् की गांठें इसकी छुअन से अपने ही आप खुल जाते हैं। साधकों की यह आम समस्या है कि व्यवहार की गड़बड़ियाँ से भी मन इतना चंचल व अस्थिर हो जाता है कि योग साधना की स्थिति ही नहीं बनती। इस समस्या का निराकरण महर्षि अपने अगले सूत्र में कहते हैं। वे कहते हैं-

मैत्रीकरुणामुदितोयेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ १/३३॥

शब्दार्थ-सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्= सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा, ये चारों जिनके क्रम से विषय है, ऐसी; **मैत्रीकुरूणामुदितोयेक्षाणाम्**= मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की; **भावनातः**= भावना से; **चित्तप्रसादनम्**= चित्त स्वस्थ हो जाता है।

अर्थात् आनन्दित व्यक्ति के प्रति मैत्री, दुःखी व्यक्ति के प्रति करुणा, पुण्यवान् के प्रति मुदिता तथा पापी के प्रति उपेक्षा, इन भावनाओं का सम्वर्धन करने से मन शान्त हो जाता है।

महर्षि पतंजलि के इस सूत्र में व्यावहारिक जीवन की सभी समस्याओं के समाधान समाहित है। इसे यदि व्यवहार चिकित्सा का आधारभूत तत्व कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। व्यवहार चिकित्सा के द्वारा चिकित्सक न केवल मनोरोगी के आन्तरिक घावों को ठीक करता है, बल्कि उसके व्यवहार को सुधारता व सँवारता है। फिर यह व्यवहार बच्चे का हो या फिर युवक अथवा प्रौढ़ का। महर्षि पतंजलि इस सूत्र में व्यवहार के

परिष्कार से चित्त के परिष्कार की विधि सुझाते हैं। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि 'व्यवहार सुधरे तो चित्त सँवरे।'

महर्षि के सूत्र में चार आयाम हैं। इनमें से पहला आयाम है **मैत्री** का। महर्षि कहते हैं कि मैत्री आनन्दित व्यक्ति से। परम पूज्य गुरुदेव इस तत्व की व्याख्या में कहते थे- मैत्री शब्द से तो सभी परिचित हैं, पर अर्थ को प्राय: कोई नहीं जानता। प्राय: लोग मैत्री उससे करते हैं, जिससे कुछ लाभ मिलने वाला हो, जिसमें अपना लोभ टिका हो। इस लाभ और लोभ के बावजूद भी सच्ची मैत्री के दर्शन नहीं हो पाते। बस मित्रता का ऊपरी दिखावा होता है। यथार्थ में तो सुखी और आनन्दित व्यक्ति के प्रति सामान्य मन ईर्ष्या से भर जाता है। दाह और जलन मन को झुलसाने लगते हैं। गुरुदेव कहते थे कि सुखी व आनन्दित से मैत्री का भाव इसलिए होना चाहिए, क्योंकि सुखी रहने की, जीवन जीने की कला सीखी जा सकती है। उससे आनन्दित होने की तकनीकें जानी जा सकती हैं। उसके सहचर्य में जीवन की सही डगर खोजी जा सकती है। बस इस सम्बन्ध में बात इतनी जरूर देख ली जाय कि उसका आनन्द किसी साधन-सुविधा पर न टिका रह कर आत्मा की गहराइयों से उपजा हो।

महर्षि के सूत्र का दूसरा आयाम है करुणा। **करुणा** दु:खी व्यक्ति के प्रति। फिर यह दु:खी कोई भी क्यों न हो। युगऋषि गुरुदेव का कहना था कि दु:खियों को प्राय: व्यंग्य, अपमान व तिरस्कार का शिकार होना पड़ता है। न तो कोई उनकी सहायता के लिए तत्पर होता है और न कोई उनका हाथ थामता है। गुरुदेव कहते थे- जो प्रत्येक दु:खी में नारायण का दर्शन करता है, उसकी सेवा के लिए स्वयं को न्यौछावर करता है, वही सच्चा योग साधक है। ध्यान रहे सम्वेदना का एक ही अर्थ है। सम+वेदना यानि कि किसी की पीड़ा से हमें भी उतनी ही व्याकुलता होनी चाहिए जितनी कि उसकी है। पीड़ित के प्रति करुणा यही योगधर्म है। फिर वह

पीड़ित कोई बुरा हो या भला। गुरुदेव कहा करते थे कि दुःखी सिर्फ दुःखी होता है, वह न भला होता है और न बुरा। वह न पापी होता है न पुण्यात्मा। वह तो सिर्फ नारायण होता है। उसके प्रति तो केवल सम्वेदनशील होकर सेवाधर्म निभाया जाना चाहिए।

महर्षि के सूत्र का तीसरा आयाम है- **मुदिता**। मुदिता सफल व्यक्ति के प्रति, पुण्यवान् के प्रति। हालांकि लोकचलन में सफल व्यक्ति केवल ईर्ष्या के पात्र बनते हैं। प्रत्यक्ष में भले ही कोई उन्हें बधाई देता रहे, प्रशंसा करता रहे, पर परोक्ष में उसे नीचा दिखाने वाले उपाय ही सोचे जाते हैं। गुरुदेव कहते थे किसी की सफलता पर हमें न केवल प्रसन्न होना चाहिए, बल्कि उससे प्रेरणा लेना चाहिए। जो जीवन की तह को जानते हैं, जीवन के मर्म से परिचित हैं, उन्हें मालूम है कि प्रत्येक सफलता केवल पुण्य का परिणाम होती है। पुण्य कर्मों के परिणाम ही व्यक्ति को सफल बनाते हैं। हालाँकि इन्हें हासिल करने के लिए व्यक्ति कभी-कभी दुष्कर्मों का भी सहारा लेता है। लेकिन सफलता कभी भी दुष्कर्मों का परिणाम नहीं होती। इन दुष्कर्मों के कारण या तो सफलता अधूरी रह जाती है- या फिर कलंकित हो जाती है। इसलिए किसी की भी सफलता के पीछे छुपे उसके पुण्य कर्मों की ओर नजर डालकर हमें प्रसन्न होना चाहिए।

महर्षि के सूत्र का चौथा आयाम है- **उपेक्षा**। हमें उपेक्षा उनकी करनी चाहिए, जो यथार्थ में पापी हैं और कदम-कदम पर हमें नुकसान पहुँचाने की कोशिश करते हैं। ऐसों के प्रति हमारे मन में न तो द्वेष रहे और न घृणा। इनसे हर पग पर हमको टकराने की भी कोई जरूरत नहीं। इनसे तो बस बचा जाना चाहिए। और इसका एक ही उपाय है-इनकी उपेक्षा। ये बेचारे हैं- इनके प्रति द्वेष भाव रखकर अपने मन को मलिन नहीं करना चाहिए। हाँ, जब परिस्थितियाँ विषमता से भरी हो और जीवन में ऐसे दुष्ट जनों की भरमार हो, तो ऐसे में इनकी उपेक्षा करके सारा ध्यान अपने

तपबल बढ़ाने में लगाना चाहिए। यह तप ही हमें इन पापियों से बचाता है और इसी से जीवन की नयी राहें खुलती हैं।

और अन्त में इस सूत्र के उपसंहार क्रम में महर्षि कहते हैं कि व्यवहार के इन सभी चार तत्वों का अनुपालन करने से चित्त स्वच्छ हो जाता है, क्योंकि इस प्रक्रिया से अतीत में पड़ी मन की सभी गाँठें खुल जाती हैं और नयी ग्रन्थियों के होने की संभावना समाप्त हो जाती है। बस, अन्तस् का सविधि सम्पूर्ण परिष्कार ही इस व्यवहार साधना का मर्म है।

बड़ा गहरा है–प्राण व मन का नाता

जो योग साधना के मर्म को जानते हैं, उन्हें मालूम है कि प्राण प्रवाह को शुद्ध किये बिना साधना में सफलता सम्भव नहीं है। तपस्वी के तप, भक्त की भक्ति और योगी के योग से सबसे पहले प्राण निर्मल होते हैं। ऐसा होने पर ही इनकी साधना आगे बढ़ती है। प्राणों का मल वासना है। वर्तमान स्थिति में प्राण वासना से गंदले और धुँधले हैं। वासना के आवेग इन्हें प्रेरित, प्रवर्तित, परिवर्तित और उद्वेलित करते हैं। वासना इन्हें जिधर मोड़ती है, प्राण उधर ही मुड़ जाती है। साधना जीवन का यह ऐसा विकट सत्य है, जिसे प्रत्येक साधक अपनी साधना में कभी न कभी अनुभव करता है। जो साधक सावधान और जागरूक होते हैं, वे अपनी साधना के प्रारम्भ में ही इस समस्या का हल ढूँढ लेते हैं। जो इस सावधानी से चूक जाते हैं, उन्हें आगे चलकर भटकाव व पतन के महाव्यूह में फँसना पड़ता है।

महर्षि पतंजलि योग साधना के सभी रहस्यों के गहरे ज्ञानी हैं। इसीलिए वे अपने योग सूत्रों में साधकों व साधना की सभी उलझनों को एक-एक करके सुलझाते हैं। व्यवहार के परिमार्जन से संस्कारों के परिमार्जन की प्रक्रिया सुझाने के साथ महर्षि बताते हैं कि मंजिल तक पहुँचने के लिए राहें और भी हैं। महर्षि पतंजलि अध्यात्म विज्ञान के महान् वैज्ञानिक हैं और वे अपनी वैज्ञानिक अभिवृत्ति के अनुरूप नयी प्रक्रियाएँ व नयी तकनीकें विकसित करते हैं। इस नये सूत्र में उनकी एक नयी तकनीक का प्रस्तुतीकरण है–

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ १/३४॥

शब्दार्थ- वा= अथवा, **प्राणस्य** = प्राणवायु को, **प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्** = बारम्बार बाहर निकालने व रोकने के अभ्यास से भी चित्त निर्मल होता है।

अर्थात् बारी-बारी से श्वास बाहर छोड़ने और रोकने से भी मन शान्त होता है।

महर्षि अपने इस सूत्र में बड़ी अद्‌भुत बात कहते हैं-वे बताते हैं कि प्राण व मन का जोड़ गहरा है। कहीं गहरे में प्राणों में मन घुला हुआ है, ठीक इसी तरह से प्राण भी मन में घुले हुए हैं। श्वास और विचार गहरे में एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। जब हमारे विचारों की गुणवत्ता में परिवर्तन आता है, तो श्वास भी परिवर्तित हो जाती है। विचारों में क्रोध का उद्वेलन हो या कामुकता का ज्वार उठे, तो श्वास की लय बदले बिना नहीं रहती। इसी तरह यदि विचारों में गहरी शान्ति, समरसता व सामंजस्य हो तो श्वास की लय भी सुरीली हो जाती है। इस सत्य व सिद्धान्त के आधार पर ही हठयोग में प्राणायाम का सम्पूर्ण विधान रचा गया है। हठयोग कहता है कि प्राण को यदि साध लिया जाय, तो मन अपने आप ही सध जायेगा। महर्षि अपने सूत्रों व प्रयोगों में हठयोग की जटिलता तो नहीं बताते, परन्तु प्राणशोधन की आवश्यकता अवश्य बताते हैं। वे कहते हैं कि यदि श्वास के आवागमन को लयबद्ध किया जाय, तो चित्त भी लयबद्ध हो जायेगा।

इस संदर्भ में महर्षि हठयोग में वर्णित प्राणायाम की जटिल प्रक्रियाओं व प्रयोगों में उलझना नहीं चाहते। उनका समूचा आग्रह चित्तशोधन पर है। इसे सुगम बनाया जा सकता है, यदि श्वास को लयबद्ध करने की कोई सुगम-सरल विधि अन्वेषित की जाय। परम पूज्य गुरुदेव द्वारा अन्वेषित व विकसित प्राणाकर्षण प्राणायाम महर्षि के इस सूत्र की बड़ी सुगम व प्रयोगात्मक व्याख्या है। इसमें जटिलता बिल्कुल भी नहीं है, किन्तु प्रभाव व्यापक है। इस प्रक्रिया को बताते हुए गुरुदेव कहते हैं कि प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर साधना के लिए किसी शान्तिदायक स्थान में आसन बिछाकर बैठिये, दोनों हाथों को घुटनों पर रखिये, मेरुदण्ड सीधा रहे, नेत्र बन्द कर लीजिये।

फेफड़ों में भरी हुई सारी हवा बाहर निकाल दीजिये, अब धीरे-धीरे नासिका द्वारा साँस लेना आरम्भ कीजिये, जितनी अधिक मात्रा में फेफड़े

में हवा भर सकें भर लीजिये। अब कुछ देर उसे भीतर रोके रखिये। इसके पश्चात् साँस को धीरे-धीरे नासिका द्वारा बाहर निकालना आरम्भ कीजिये। हवा को जितना अधिक खाली कर सकें-कीजिये। अब कुछ देर साँस को बाहर ही रोक दीजिये अर्थात् बिना साँस के रहिये। इसके बाद पूर्ववत् वायु को खींचना आरम्भ कीजिये। यह एक प्राणाकर्षण प्राणायाम हुआ। परम पूज्य गुरुदेव कहते हैं कि साँस खींचने को रेचक, निकालने को पूरक और रोके रहने को कुम्भक कहते हैं। कुम्भक के दो भेद हैं-साँस को भीतर रोके रहना-अंत:कुम्भक और खाली करके बिना साँस के रहना-बाह्य कुम्भक कहलाता है। रेचक व पूरक में समय बराबर लगना चाहिए, जबकि कुम्भक में उसका आधा समय ही पर्याप्त है।

प्राणायाम की यह प्रक्रिया विचार शुद्धि, भाव शुद्धि व संस्कार शुद्धि के उद्देश्य को पूरा करे, इसके लिए इस प्रयोग के साथ भावों का जुड़ना जरूरी है। पूरक करते समय यह भावना करनी चाहिए कि मैं जन शून्य लोक में अकेला बैठा हूँ और मेरे चारों ओर विद्युत जैसी चैतन्य जीवनी शक्ति का समुद्र लहरें ले रहा है। साँस द्वारा वायु के साथ-साथ प्राण शक्ति को मैं अपने अन्दर खींच रहा हूँ। अन्त:कुम्भक करते समय यह भावना करनी चाहिए कि उस चैतन्य शक्ति को मैं अपने भीतर भर रहा हूँ। समस्त नस-नाड़ियों में अंग-प्रत्यंगों में वह शक्ति स्थिर हो रही है। उसे सोंखकर देह का रोम-रोम चैतन्य, प्रफुल्लित, सतेज व परिपुष्ट हो रहा है। रेचक करते समय भावना करनी चाहिए कि शरीर में संचित मल, रक्त में मिले हुए विष, मन में धँसे हुए विकार साँस छोड़ने के साथ वायु के साथ-साथ बाहर निकाले जा रहे हैं। बाह्य कुम्भक करते समय भावना करनी चाहिए कि अन्दर के दोष बाहर निकालकर भीतर का दरवाजा बन्द कर लिया है, ताकि ये विकार वापस न लौटने पायें। इन भावनाओं के साथ प्राणाकर्षण प्राणायाम करना चाहिए। आरम्भ में पाँच प्राणायाम करें, फिर क्रमश: सुविधानुसार बढ़ाते जायें।

ठीक तरह से प्राणाकर्षण करने पर सूर्यचक्र जाग्रत होने लगता है। ऐसा लगता है कि पसलियों के जोड़ व आमाशय के स्थान पर जो गड्ढा है वहाँ सूर्य के समान एक छोटा सा प्रकाश बिन्दु मानव नेत्रों से दीख रहा है। वह गोला आरम्भ में छोटा, थोड़े प्रकाश का और धुँधला मालूम पड़ता है, किन्तु जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ने लगता है, वैसे-वैसे यह स्वच्छ बड़ा और प्रकाशवान् होता है। जिनका अभ्यास बढ़ा-चढ़ा है। उन्हें आँख बन्द करते ही अपना सूर्य चक्र साक्षात् सूर्य की तरह तेजपूर्ण दिखाई देने लगता है।

प्राणाकर्षण की इस प्रक्रिया से प्राण प्रवाह में निर्मलता आती है। और प्राणों की इस निर्मलता से विचारों की उत्तेजना, उद्वेलन स्वत: ही शान्त हो जाते हैं और अन्तत: संस्कारों के शुद्ध होने की प्रक्रिया चल पड़ती है। इस प्रक्रिया से चित्त स्वस्थ-प्रसन्न होता चला जाता है। यदि विवेक व वैराग्य का सम्बल बना रहे और इससे मिलने वाली अतीन्द्रिय सामर्थ्य व सिद्धियों को दरकिनार किया जा सके, तो अन्तत: समाधि की अनुभूति मिलने में भी देर नहीं लगती।

ध्यान से उपजती है–अतीन्द्रिय संवेदना

योग साधक की दृष्टि, उसकी संवेदना और अनुभूतियों का संसार सबसे अलग विशेष व विलक्षण होता है। वह सामान्य इन्द्रियों से पार व परे देखता है, जानता है, अनुभव करता है। उसके सामने सत्य के व्यापक रूप प्रकट होते हैं। उसकी अन्तर्चेतना में अस्तित्व की इन्द्रधनुषी छटा झलकती है। इस छटा की एक झलक उसकी साधना को तीव्र से तीव्रतर कर देती है। अन्तर्मन के अँधेरे कोनों में उतरी प्रकाश की पवित्र किरण को निहार कर उसकी साधना और भी निखर उठती है। यह एक ऐसा अनुभव है, जिसके बारे में यही कहा जा सकता है- 'देखो तो जानो'।

वस्तुतः यदि किसी ने पूरी तल्लीनता से प्राणायाम की साधना की है, तो वह अनायास ही ध्यान की साधना का अधिकारी बन जाता है। उसके अपनी चेतनता में योग के रहस्य खुलने लगते हैं। उसकी अतीन्द्रिय संवेदनाओं में साधना के सत्य व तत्त्व झलकने लगते हैं। जिसे इस अनुभूति की झाँकी मिली है, उसके लिए महर्षि अगला सूत्र कहते हैं-

इस अगले सूत्र में योग साधना को और भी अधिक गहरा करने की उम्मीद व तकनीक है। यह सूत्र है-

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिबन्धनी ॥१/३५॥

शब्दार्थ-विषयवती= विषयवाली; **प्रवृत्तिः**= प्रवृत्ति; **उत्पन्ना**= उत्पन्न होकर (वह) **वा**= भी; **मनसः**= मन की; **स्थितिनिबन्धनी**= स्थिति को बांधने वाली हो जाती है।

अर्थात् जब ध्यान के अभ्यास से (दिव्य विषयों का साक्षात् कराने वाली) अतीन्द्रिय संवेदना उत्पन्न होती है, तो मन आत्मविश्वास पाता है और इसके कारण साधना में निरन्तरता बनी रहती है।

महर्षि अपने इस सूत्र में प्रकारान्तर से अभ्यास की महिमा बताते हैं।

वह बताते हैं ध्यान की गहराई में होने वाले पहले अनुभवों के बारे में। साधकों की परम्परा में एक कहावत बड़े प्यार से दुहराई जाती है। और वह कहावत है कि दो आँखें तो सभी की होती हैं, साधक तो वह है जिसकी तीसरी आँख हो। जिसके तीसरी आँख है, वही दृष्टिवान् है, अन्यथा वह अन्धा है। और यह तीसरी आँख है—जाग्रत् मन। इसे ही अतीन्द्रिय संवेदना कहते हैं। यह अतीन्द्रिय संवेदना कोई बहुत ज्यादा बड़ी चीज नहीं है। जो भी योग साधना करते हैं, उन सभी को पहले ही कदम पर अतीन्द्रिय संवेदना का अनुदान मिलता है। इन्द्रियों के झरोखे से मन पदार्थ जगत् को देखता है; लेकिन अतीन्द्रिय संवेदनाओं के वातायन से चेतना जगत् की झाँकी मिलती है। 'आध्यात्मिक अनुभवों की प्रकाश धाराएँ' अवतरित होती हैं।

ये ऐसे अनुभव है जिसका एक कण-एक क्षण भी मिल जाय, तो साधक की साधना की तीव्रता व सघनता कई गुनी बढ़ जाती है। जिसे अपने ध्यान में अनुभूतियों की यह सम्पदा मिलती है, वह ध्यान किए बिना रह नहीं सकता। ध्यान उसके जीवन में श्वासों की भाँति घुल जाता है। कई बार गुरु अपनी तप शक्ति से, आध्यात्मिक ऊर्जा से ऐसे दिव्य अनुभव प्रदान कर देते हैं, ताकि शिष्य की साधना में गति आए। परम पूज्य गुरुदेव **आचार्य रामानुज** के जीवन की ऐसी ही एक कथा का जिक्र किया करते थे। यह कथा सद्गुरु की कृपा से परिपूरित अनुदान की है। आचार्य रामानुज उन दिनों श्रीरंगम में थे। विशिष्टाद्वैत दर्शन के आचार्य के रूप में उनका यश दिगन्त व्यापी हो चुका था। उनकी महान् आध्यात्मिक शक्ति की कथा, गाथाएँ गाँव-गाँव में कही-सुनी जाती थी।

ऐसे परम पवित्र महान् आचार्य इस श्रीरंगम के पीठ में आसीन थे। श्रीरंगम में मेले की भारी भीड़ थी। दर्शनार्थियों का ताँता लगा था। इन दर्शनार्थियों की भीड़ में एक विचित्र व्यक्ति भी था। लोग उसे भय, घृणा और आतंक मिश्रित नजरों से देख रहे थे। इन देखने वालों के मनं में बहुत कुछ उमड़-घुमड़ रहा था; पर किसी में साहस ही नहीं था कि कोई उससे

कुछ कहे। यह दृश्य ही कुछ ऐसा था। यह विचित्र व्यक्ति उस इलाके का **खूंखार दस्यु दुर्दम** था। और वह एक महिला के साथ उस पर छतरी लगाए जा रहा था। उसकी नजरों में उस महिला के लिए भारी वासनात्मक आसक्ति थी। प्रभु मन्दिर में भी इस वासना भरे कुत्सित दृश्य को लोग हज़म नहीं कर पा रहे थे। पर कोई कहता भी क्या?

आचार्य रामानुज ने भी यह विचित्र दृश्य देखा। उन्हें भी कुछ अटपटा लगा। असमंजस भरे स्वर में उन्होंने अपने एक शिष्य से पूछा भगवान् श्रीरंगम के पवित्र स्थान में यह कौन है? शिष्य ने डाकू दुर्दम की कथा, उसके अत्याचारों के वीभत्स विवरणों के साथ सुना डाली। आचार्य शिष्य की सारी बातें सुनते रहे। इन बातों में उस महिला का जिक्र भी कई बार आया, जिसके पीछे यह डाकू छतरी लगाए जा रहा था। सारी कथा सुनने के बाद आचार्य ने अपने इस शिष्य से कहा- तुम जाकर उसे बुला लाओ। पर क्यों भगवन्! शिष्य ने लगभग सहमते हुए कहा। प्रश्न न करो वत्स! बस तुम उसे बुला दो। भगवान् उस पर कृपा करना चाहते हैं।

आचार्य की रहस्य वाणी शिष्य की समझ में न आयी। फिर भी उसने आदेश का पालन किया। डाकू दुर्दम भी इस अप्रत्याशित बुलावे के लिए तैयार न था। वह भी आचार्य की आध्यात्मिक विभूतियों की कथाएँ सुन चुका था। सो इस बुलावे पर उसे भी थोड़ा डर लगा। क्योंकि अपने मन के किसी कोने में उसे अपने पापों का बोध था। इसलिए अनजाने भय के पाश में बँधकर आचार्य के समीप जा पहुँचा। आचार्य ने उसे देखा। उनकी इस दृष्टि में उसके लिए करुणापूरित वात्सल्य था। बड़े प्यार से उन्होंने उससे पूछा- तुम्हारे साथ में जो देवी हैं, वे कौन हैं वत्स? इस सवाल के उत्तर में दुर्दम ने लज्जा से अपना सिर झुका लिया। वैसे भी आचार्य की अतीन्द्रिय संवेदनाओं से भला क्या छुपता?

आचार्य ने फिर से टटोलने वाली नजरों से उसे देखते हुए दुर्दम से पुनः सवाल किया- वत्स, इस स्त्री में तुम्हें क्या अच्छा लगता है? डाकू दुर्दम ने अबकी बार थोड़ा झिझकते हुए उत्तर दिया- भगवन् मैं इसके रूप

और सौन्दर्य से मोहित हूँ। और यदि इससे भी श्रेष्ठ सौन्दर्य की झलक तुम्हें मिल जाय तो? तब तो मैं इसे छोड़ दूँगा, दुर्दम ने उत्तर दिया। आचार्य उसके इस उत्तर पर मुस्कराए और बोले- नहीं तुम इसे छोड़ना मत। इससे विवाह करना और एक सद्गृहस्थ की भाँति रहना। ऐसा कहते हुए आचार्य ने उसके सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेरा। लगभग तीन पल वे ऐसा ही करते रहे। बाद में उन्होंने उसे तीन थपकियाँ दीं। इतना करते ही दुर्दम जैसे चेतना शून्य हो गया। बस वह निस्पन्द बैठा रहा। उसकी आँखों से आँसू झरते रहे। काफी देर बाद उसकी चेतनता बाह्य जगत् में लौटी। अब तो बस उसकी एक ही रट थी, मुझे वही दृश्य, वही अनुभूति बार-बार चाहिए। मुझे प्रभु का वही सौन्दर्य सतत निहारना है।

शान्त स्वर में आचार्य ने कहा- इसके लिए तुम ध्यान करो वत्स! तुमने जो अनुभव किया- वह सब ध्यान का अनुभव था। हाँ बस बात इतनी है कि यह ध्यान तुम्हें मेरे प्रयास से लगा। आगे तुम्हें स्वयं प्रयास करने होंगे। ध्यान करते-करते अतीन्द्रिय संवेदना के जागरण से ये अनुभव तुम्हें नित्य होंगे। आचार्य के वचन दुर्दम के लिए प्रेरणा बन गए और उनकी कृपा से हुए आध्यात्मिक अनुभव उसके लिए ऊर्जा का स्रोत। अतीन्द्रिय संवेदनों से हुई अनुभूति ने डाकू दुर्दम को महान् सन्त में बदल दिया।

ध्यान की गहराई में छिपा है परम सत्य

योग साधक जैसे-जैसे अन्तर्यात्रा पथ पर आगे बढ़ते हैं, उनकी संवेदनाएँ सूक्ष्म हो जाती है। इस संवेदनात्मक सूक्ष्मता के साथ ही उनमें संवेगात्मक स्थिरता-नीरवता व गहरी शान्ति आती है। और ऐसे में उनके अनुभव भी गहरे, व्यापक व पारदर्शी होते चले जाते हैं। कई बार नए साधक आगे का मार्ग पाने के लिए बेचैन होते हैं। उनमें अध्यात्म की उच्चस्तरीय कक्षा में प्रवेश के लिए त्वरा होती है। यदा-कदा मार्गदर्शक का अभाव उन्हें परेशानी में डालता है। ऐसों के लिए महर्षि पतंजलि के सूत्र एवं परम पूज्य गुरुदेव की अनुभूतियाँ अमृततुल्य औषधि की भाँति है। वह सुझाते हैं, बताते हैं, चेताते हैं कि साधना की अविरामता ही भावी मार्ग की प्राप्ति का कारण है। साधना की अविरामता से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती चेतना स्वतः ही नए मार्ग के द्वार खोलती है। नया पथ प्रशस्त करती है।

सच्चाई यह है कि ये अनुभूतियाँ हमारे अन्तःकरण को प्रेरित, प्रकाशित, प्रवर्तित व प्रत्यावर्तित करती हैं। इसमें उच्चस्तरीय आध्यात्मिक चेतना के अवतरण के साथ एक अपूर्व प्रत्यावर्तन घटित होता है। एक गहन रूपान्तरण की प्रक्रिया चलती है। इस प्रक्रिया के साथ ही योग साधक की दिव्य संवेदनाएँ बढ़ती है और उसकी साधना की ज्योति और भी प्रखर होती है।

इस अनुभूति कथा के अगले चरण को महर्षि ने अपने अगले सूत्र में प्रकट किया है। यह सूत्र है-

विशोका वा ज्योतिष्मती॥ १/३६॥

शब्दार्थ- **वा**= इसके सिवा (यदि); **विशोका**= शोकरहित; **ज्योतिष्मती**= ज्योतिष्मती प्रवृत्ति (उत्पन्न हो जाय तो वह) भी मन की स्थिति स्थिर करने वाली होती है।

अर्थात् अभ्यास के क्रम में उस आन्तरिक प्रकाश का भी ध्यान करो, जो शान्त है और सभी दु:खों से बाहर है।

महर्षि अपने इस सूत्र में ध्यान की गहनता की ओर इंगित करते हैं। ध्यान द्वार है—अतीन्द्रिय संवेदना का। जो ध्यान करते हैं, उन्हें काल क्रम में स्वयं ही इस सत्य का अनुभव हो जाता है। यह सच है कि ध्यान में सम्पूर्ण आध्यात्मिक रहस्य समाए हैं। फिर भी इसका अनुभव कम ही लोग कर पाते हैं। और इसका कारण है कि ध्यान के बारे में प्रचलित भ्रान्तियाँ। कतिपय लोग ध्यान को महज एकाग्रता भर समझते हैं। कुछ लोगों के लिए ध्यान केवल मानसिक व्यायाम भर है। ध्यान को एकाग्रता समझने वाले लोग जिस किसी तरह से मानसिक चेतना को एक बिन्दु पर इकट्ठा करने की कोशिश करते हैं हालाँकि उनके इस प्रयास से परामानसिक चेतना के द्वार नहीं खुलते। उन्हें अन्तर्जगत में प्रवेश नहीं मिलता। वे तो बस बाहरी उलझनों में भटकते अथवा मानसिक द्वन्द्वों में अटकते रहते हैं।

जबकि ध्यान अन्तर्यात्रा है और यह यात्रा वही साधक कर पाते हैं, जिन्होंने अपनी साधना के पहले चरणों में अपनी मानसिक चेतना को स्थिर, सूक्ष्म व शान्त कर लिया है। अनुभव का सच यही है कि मानसिक चेतना को स्थिरता, सूक्ष्मता व शान्ति ही प्रकारान्तर से परामानसिक चेतना की अनुभूति है। इस अनुभूति में व्यापकता व गुणवत्ता की संवेदना का अतिविस्तार होता है। साथ ही इसे पाने पर अन्तर्चेतना स्वत: ही ऊर्ध्वगमन के लिए प्रेरित होती है।

परम पूज्य गुरुदेव अपनी चर्चाओं व संगोष्ठियों में प्राय: एक बात कहा करते थे कि आध्यात्मिक जीवन की पहली किरण जिसने देख ली, वह स्वत: ही संसार की सभी बुराइयों से दूर हो जाता है। उसका मन अपने आप ही सांसारिक रसों से दूर हो जाता है। गुरुदेव के अनुसार ज्यों-ज्यों हम स्थूल भोगों को भोगते हैं, हमारी चेतना भी उतनी ही स्थूल एवं संवेदनहीन हो जाती है। इतना ही नहीं, हम इतने ज्यादा बर्हिमुखी हो जाते हैं कि हमारी समूची आन्तरिक योग्यताएँ ही समाप्त हो जाती हैं।

इसके विपरीत जब हम सूक्ष्म तत्त्वों के प्रति प्रकाग्र होते हैं तो संवेदना व चेतना भी सूक्ष्म हो जाती है। और साथ ही हमारे सामने सूक्ष्म जगत् की झाँकी झलकने लगती है। जिसने ऐसा किया है, वह आँख बंद करते ही हृदयाकाश में उदित होते हुए सूर्य की झाँकी पा लेता है। यही नहीं हृदय के पास ज्योतित अग्निशिखा भी हमें दिखाई देती है। यद्यपि वह सब समय वहीं पर है, लेकिन हम उसे यूँ ही अभी देख नहीं सकते। दूसरे भी नहीं देख सकते। इसका कारण केवल इतना भर है कि अभी हमारे पास उपयुक्त सूक्ष्म-चेतना का अभाव है। जप की तल्लीनता हो या ध्यान की गहनता इसकी यथार्थ उपलब्धि हमारे अन्तस् की सूक्ष्मता है।

गुरुदेव इस क्रम में एक गायत्री साधक की घटना सुनाते हैं। इन साधक का नाम **वीरमणि** था। वीरमणि पढ़े तो ज्यादा नहीं थे। पर उनकी अनुभूतियों का संसार अनोखा था। उन्होंने ग्यारह साल की उम्र से गायत्री का जप शुरू किया था। प्रात: सायं गायत्री जप यही उनका नियम था। यूँ उनका पेशा तो खेती करना था। खेती के सभी कामों को वह मनोयोगपूर्वक करते थे। इसी के साथ उनका मानसिक जप भी चलता रहता था। बुवाई, निराई, गुड़ाई, सिंचाई आदि कार्यों के साथ उन्होंने गायत्री जप का अच्छा क्रम बिठा लिया था। जप के प्रभाव से उनकी भावचेतना उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती गयी। जप की गहराई ने कब ध्यान का रूप ले लिया, यह पता ही न चला। बस गायत्री उनके लिए अजपा हो गयी। और ध्यान की प्रगाढ़ता भाव समाधि में बदल गयी।

इस प्रगाढ़ ध्यान में वह आन्तरिक प्रकाश में घण्टों डूबे रहते थे। यहाँ तक कि उनका निद्राकाल भी साधना में परिवर्तित हो गया था। जितनी उनकी साधना प्रगाढ़ होती गयी, उतनी ही शान्ति भी गहन होती गयी। इस साधना क्रम में उनकी रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ, सभी उत्तरोत्तर सूक्ष्म एवं प्रकाशित हो गयी। कभी पूछने पर वह कहते कि मुझे तो बस इतना ही मालूम है कि आँख बन्द करते ही मैं प्रकाश के महासागर में तैरने लगता हूँ। इस प्रकाश से मेरी समूची दुनिया ही बदल गयी है। पहले मैं प्रयास से साधना करता

था, अब तो अपने आप ही साधना होती है। सचमुच ही यह बिना किए होती है। मन अपने आप ही स्थिर, एकाग्र व शान्त रहता है। सब कुछ बदल गया है। बस यही अनुभव होता है कि गायत्री ही प्रकाश है और वह प्रकाश स्वयं मैं हूँ।

पतंजलि कहते हैं कि इस प्रकाश के भाव चेतना में उदय होते ही सारे शोक विलीन हो जाते हैं। जो इसे अनुभव करता है, वह जानता है कि इससे अधिक आनन्दमय और कुछ भी नहीं। और कुछ भी हृदय के भीतर अनुभव होने वाले इस प्रकाश से ज्यादा संगीतपूर्ण एवं सुसंगत नहीं होता है। इसकी अनुभूति जितनी प्रगाढ़ होती है, हम उतने ही ज्यादा शान्तिपूर्ण, मौन व एकजुट हो जाते हैं।

राग शमन करता है–वीतराग का ध्यान

अन्तर्यात्रा का विज्ञान योग पथ को प्रकाशित करता है। इसके प्रकाश में योग पथ की सूक्ष्मताएँ, गुह्यताएँ गहरे रहस्य उजागर होते हैं। योग पथ के पथिक इस प्रकाश का सहारा पाकर इधर-उधर अटकने-भटकने से बचते हैं। अन्तर्यात्रा विज्ञान का प्रकाश उन्हें न केवल उच्चस्तरीय प्रेरणाएँ देता है, बल्कि उनके अन्तस् को पवित्र बनाता है। वे जीवन की अनगिनत भ्रान्तियों से मुक्त होकर समग्र रूपान्तरण की ओर अग्रसर होते हैं। यह एक ऐसा अनुभव है, जिसे अनेकों ने पाया है और वे इसमें जी रहे हैं। जिन्होंने भी अपनी अन्तर्यात्रा के लिए इस योग कथा का अवलम्बन लिया है, वे इसके पुण्य प्रकाश से सदा लाभान्वित हुए हैं। उनकी साधना में आने वाले अँधेरे, इसके प्रभाव से उजाले में बदले हैं। उनकी अटकनों को नये द्वारों की आहट मिली है और उनकी भटकनों ने नई राहें पायी हैं।

कठिनाई बस है कि जिनकी चित्तवृत्तियाँ बर्हिमुखी है, वे अपने आंतरिक प्रकाश को न तो खोज पाते हैं और न पहचान पाते हैं। ऐसों के लिए महर्षि एक नया सूत्र देते हैं।

इस योग कथा का यह अगला सूत्र बहुत ही सुस्पष्ट है। साथ ही सामान्य साधकों के लिए साधना के ढंग से अतिसहज भी। महर्षि का यह सूत्र है-

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ १/३७॥

शब्दार्थ-वीतरागविषयम् = वीतराग को विषय करने वाला; **चित्तम्** = चित्त; **वा** = भी (स्थिर हो जाता है)।

अर्थात् वीतरागता को जो उपलब्ध हो चुका है, उसका ध्यान करो।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र उनकी परम करुणा का सुस्पष्ट प्रमाण है। वे मानव चेतना के परम वैज्ञानिक होने के साथ परम करुणावान् भी

हैं। एक ओर वे जहाँ अस्तित्व की सूक्ष्मताओं, गुह्यताओं एवं गहरे रहस्यों व भेदों को उजागर करते हैं, तो दूसरी ओर वे यह भी ध्यान रखते हैं कि योग की निर्मल सरिता सभी के लिए बहे। सब इससे लाभान्वित हों, सभी इससे सुख पायें। वे भी जिनकी प्रज्ञा बहुत समर्थ नहीं है, जिनमें योग की जटिल प्रक्रियाओं को करने-समझने की योग्यता नहीं है। ऐसे साधकों के लिए महर्षि पतंजलि माँ की भाँति हैं। वे उनकी अंगुली पकड़ कर चलाने के लिए, अन्तर्यात्रा पर चलने के लिए एक सूत्र देते हैं। एक नयी प्रक्रिया, एक नयी विधि खोजते हैं।

यह विधि है-वीतराग पुरुष का ध्यान। वीतराग वह है, जिसके सभी राग, आसक्तियाँ, आकांक्षाएँ शान्त हो चुके हें। जो इन सभी के पार व परे जा चुका है, ऐसे व्यक्ति का ध्यान। ऐसों में एक तो स्वयं महर्षि पतंजलि हैं, साथ ही उनकी परम्परा में और भी अनेक हैं। बुद्ध पुरुषों की बड़ी समर्थ परम्परा ने इस धरा को धन्य किया है। समय-समय पर अनेक वीतराग विभूतियों ने यहाँ योग की चरम सिद्धि पायी है। इनमें वसिष्ठ, विश्वामित्र, नारद आदि प्राचीन ऋषिगण हैं। भगवान् श्रीकृष्ण, प्रभु श्रीराम, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि अवतारी सत्ताएँ हैं। महर्षि अरविन्द, श्रीरामकृष्ण परमहंस, भक्तिमती मीरा आदि संत हैं और इस युग को अपनी तप साधना से प्रेरित-प्रकाशित-प्रभावित करने वाले युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव हैं। ये सभी वीतराग हैं। ये सभी आसक्तियों, आकांक्षाओं से पार हैं।

इनके प्रति गहरा लगाव, सहज प्रेम, इनका भावपूर्ण चिंतन साधक की चेतना के तंतुओं को इनकी विराट्ता, पवित्रता से जोड़ता है। ये सभी एकरस हैं, शिवमय हैं, परन्तु जिसका मन जिसमें रमे। गोस्वामी तुलसी बाबा की भाषा में-'**जेहि कर मन रम जाहि सब, सो तेही सतकाम।**' यानि कि जिसका मन जिसमें रमे, उसे तो बस उससे ही काम है। अब योग साधक को अपने अन्त:करण की छान-बीनकर यह परखना है कि उसका मन कहाँ रमता है। उसे किस वीतराग से राग है। यदि इस सवाल में ज्यादा झंझट लगती हो, तो बड़ी आसान सी राह है-युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव।

वे द्वार हैं-परम चेतना का। वे मार्ग हैं-परम धाम का, परम ज्ञान का, निर्विकल्प समाधि का। यह सच उनका ध्यान करके परखा जा सकता है।

वे जगद्गुरु हैं और सद्गुरु भी। उन्होंने आज के मानव जीवन को युग बोध दिया है। योग साधकों के अन्तर्चेतना को नयी ऊर्जा, नयी चेतनता दी है। उनका ध्यान योग पथ के पथिक को सभी द्वन्द्वों से परे ले जाता है। इन पंक्तियों को पढ़कर कोई जिज्ञासु पूछ सकता है, यह भला किस तरह? तो सच यह है कि जब हम ध्यान करते हैं उसका, जो आकांक्षाओं के पार जा चुका है, तो वह हमारे भीतर एक चुम्बकीय शक्ति बन जाता है। हम उसे अपने भीतर प्रवेश करने देते हैं। वह हमें हमारी वर्तमान अवस्था से बाहर खींचता है। यही बात हमें उसकी विराट् चेतना के प्रति खोलती है।

यदि हम लगातार उसका ध्यान करते रहें, उसकी वीतरागता में खोये रहें, तो देर-सबेर हम उसी की भाँति हो जायेंगे, क्योंकि ध्यान की प्रक्रिया ध्यान करने वाले को ध्यान की विषयवस्तु की भाँति बना देती है। यदि कोई ध्यान करता है धन पर, तो वह स्वयं धन हो जाता है। एक कंजूस आदमी स्वयं ही बैंक बैलेंस बनकर रह जाता है। उसके भीतर नोटों के सरकने और सिक्कों के खनकने की सिवा और कुछ नहीं बचता। यह बड़ी सावधानी की बात है कि हमें उसी के बारे में सोचना चाहिए, चिंतन करना चाहिए और उस पर ध्यान करना चाहिए, जैसे कि हम स्वयं होना चाहते हैं।

हम अपने जीवन में स्वयं ही नरक के बीज बोते हैं और जब वे वृक्ष बन जाते हैं, तब हम अचरज से पूछते हैं कि भला मैं इतना दु:खी क्यों हूँ? कारण केवल इतना ही है कि हम सदा गलत चीजों पर ध्यान लगाते हैं। हमेशा उसकी ओर देखते हैं, जो नकारात्मक है। हमेशा हम ध्यान लगाते हैं दोषों पर और स्वयं ही दोषों से भरते चले जाते हैं। यहाँ तक कि दोषों की सघन मूर्ति बन जाते हैं।

इसीलिए पतंजलि कहते हैं कि वीतराग का ध्यान करो। ध्यान करो अपने सद्गुरु का। अपने अन्त:करण में अपने सद्गुरु के मूर्ति की स्थापना

करो। देखते-देखते सारा का सारा दृश्य बदल जायेगा। जिसे हम ध्यान का विषय बनाते हैं, वही प्रकारान्तर से हमारे जीवन का लक्ष्य बन जाता है। द्रष्टा स्वयं दृश्य बन जाता है। यह बात परम वन्दनीया माताजी के जीवन के पृष्ठों को पढ़कर जानी जा सकती है। वे शिव की पार्वती की भाँति स्वयं शिव हो गयी थीं। गुरुदेव में उनके चित्त की सतत विलीनता ने उन्हें स्वयं गुरुदेव बना दिया था। मार्ग अभी भी है, प्रक्रिया यथावत् है। बस, केवल सघन श्रद्धा, सहजप्रेम एवं सम्पूर्ण समर्पण की दरकार है।

अन्तर्चक्षु खोल-देगा निद्रा का मर्म

अन्तर्यात्रा का विज्ञान उन समर्पित पथिकों के लिए है, जिन्हें सदा इस बात का बोध रहता है कि उनकी यह अनूठी यात्रा नींद के समय भी चलती रहती है। बल्कि कई बार तो नींद में इस यात्रा की तीव्रता और भी बढ़ जाती है। हालाँकि साधारण तौर पर लोग निद्रा के महत्त्व से अपरिचित ही रहते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि इन्सान अपनी जिन्दगी का तकरीबन एक तिहाई भाग नींद में ही बिताता है। फिर भी आमतौर पर कोई इसके बारे में न तो सोचता है और न ही ध्यान देता है। ऐसा इसलिए हुआ है, क्योंकि मनुष्य ने चेतन मन की ओर, जाग्रत् दशा की ओर ज्यादा ध्यान लगाया है। जबकि भौतिक पदार्थ की भाँति मन भी त्रिआयामी है। इसका एक आयाम चेतन है, दूसरा अचेतन है और तीसरा अतिचेतन है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि व्यक्तित्व की पहेली को सुलझाने के लिए, जीवन के महाप्रश्न को हल करने के लिए व्यक्ति को अपनी सम्पूर्णता में प्रतिबद्ध होना होगा। ध्यान सधे, समाधि सिद्ध हो इसके लिए व्यक्ति की समग्र ऊर्जा आवश्यक है। व्यक्ति जब अपने जीवन के सभी आयामों में सम्पूर्ण रूप से प्रतिबद्ध होगा, केवल तभी अतिचेतन की बादल सदृश घटना में ऊर्ध्वगामी गति सम्भव है। चेतन मन तो सहज क्रियाशील है। इस क्रियाशीलता का अनुभव सभी को सदा किसी न किसी रूप में होता रहता है। अचेतन की अनुभूति गहन भावदशाओं में ही हो पाती है। गहन भावनाओं में जब चेतन नीरव निस्पन्द होता है, तब जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सीधे व्यक्तित्व की जड़ों में पहुँचता है। एक तीसरी सम्भावना अतिचेतन की है, जिसके द्वार शून्यता में खुलते हैं। और इसकी अनुभूति बड़ी विरल दशाओं में विरलों को होती है।

महर्षि अगला सूत्र कहते हैं, अबकी बार की यह राह विचित्र है और अद्‌भुत भी। परन्तु इस पर चलना नामुमकिन नहीं है।

इस राह के रहस्य को खोलने वाला महर्षि का सूत्र है-

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥ १/३८॥

शब्दार्थ-स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम्= स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करने वाला (चित्त); **वा**= भी (स्थिर हो सकता है)।

अर्थात् उस बोध पर भी ध्यान करो, जो स्वप्न और निद्रा के समय उतर आता है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र उनकी योगजन्य रहस्यमयता का बड़ा सुस्पष्ट प्रमाण है। इसमें स्वप्न और निद्रा की भारी आध्यात्मिक उपयोगिता के संकेत हैं। इन संकेतों को जिसने समझ लिया, वह अपने व्यक्तित्व की बिखरी कड़ियों को एक सूत्र में पिरो सकता है। उन्हें सूत्रबद्ध, संगठित एवं सशक्त बना सकता है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि साधक की निद्रा सामान्य जनों की नींद से अलग होती है। उसके स्वप्न भी साधारण लोगों से अलग होते हैं। इन पर ध्यान दिया जाय, तो बोध की अनूठी सम्पदा हासिल की जा सकती है।

सामान्य जनों के लिए सपने एक कौतूहल की भाँति होते हैं। परम्परावादी मनोवैज्ञानिक इनमें इच्छाओं के दमन को ढूँढते हैं। जबकि योग विज्ञानी इन्हें अन्तर्चेतना के नवीन आयामों के प्रवेश द्वार के रूप में देखते हैं। सच यही है कि सपना एक जबरदस्त क्रिया है- यह अधिक शक्तिशाली है और सामान्य क्रम में सोचने की तुलना में अधिक अर्थपूर्ण भी। क्योंकि सपनों का सम्बन्ध सामान्य ढंग से सोचने-विचारने वाले मन की तुलना में अधिक गहरे अंश से सम्बन्धित है। जब कोई नींद में जाता है, तब मन का वह हिस्सा जो दिन भर काम कर रहा था, थका होता है, निढाल होता है। यह मन का बहुत छोटा हिस्सा होता है, अचेतन की तुलना में प्रायः दशांश। अचेतन नौ गुना ज्यादा बड़ा और ज्यादा शक्तिशाली है। हाँ, इसकी शक्तिमत्ता अतिचेतन की तुलना में जरूर कम है। परन्तु सामान्य चेतन मन की तुलना में इसकी शक्ति बहुत ज्यादा है।

यही वजह है कि जो समस्याएँ चेतन मन द्वारा हल नहीं होती, वे अचेतन द्वारा हल कर ली जाती हैं। जो समाधान जाग्रत् अवस्था में नहीं मिलते, वे प्राय: स्वप्न में मिल जाते हैं। बेन्जीन के अन्वेषक **विज्ञानी काकुले** की खोज कथा को सभी जानते हैं। वे **बेन्जीन** की रायायनिक संरचना को लेकर जिन दिनों काम कर रहे थे, उन दिनों उन्हें अनेकों प्रयासों के बाद भी कामयाबी नहीं मिली। अन्तत: एक दिन उन्हें स्वप्न में बेन्जीन की संरचना का रहस्य मिला। कारण इतना भर है कि अचेतन की गहरी परतों में समाधान के गहरे सूत्र छिपे हैं। पर ये मिलते उन्हीं को हैं, जो अपनी समस्या को, प्रश्न को इन परतों तक पहुँचा सकें।

इसी तरह से निद्रा भी बहुत ज्ञान दे सकती है। क्योंकि वहाँ अनंत सम्पत्ति का भण्डार है। बहुत से जन्मों का भण्डार। क्योंकि बहुत सी चीजों को हमने वहाँ संचित किया है। योग साधक के जीवन में इसका महत्त्व बढ़ जाता है। क्योंकि साधना की गहनता में चेतना की गहरी परतें आन्दोलित-आलोड़ित होती है। जप एवं ध्यान के सूक्ष्म स्पन्दन इन्हें लगातार स्पन्दित करते हैं। इन स्पन्दनों से जहाँ जन्म-जन्मान्तर के संचित संस्कार उद्घाटित होते हैं, वहीं विराट् चेतना की झलकें भी झलकती हैं। कभी-कभी तो विशिष्ट जनों से, सिद्ध योगियों से सान्निध्य भी बनता है।

साधकों के संसार में यह बड़ा सुपरिचित रहस्य है कि सूक्ष्म जगत् में विचरण करने वाले सिद्ध योगी साधकों तक अपने सन्देश, अपनी सहायताएँ पहुँचाने के लिए स्वप्न एवं निद्रा का ही सहारा लेते हैं। ऐसा करने के लिए वे साधक के मन को अपनी संकल्प ऊर्जा से निस्पन्द एवं एकाग्र कर देते हैं। और फिर संवाद की सहज स्थिति बन जाती है। इस स्थिति में वे साधक के लिए उपयुक्त मार्गदर्शन और आने वाली परेशानियों के प्रति जागरूकता, अपेक्षित सावधानियाँ सभी कुछ बता देते हैं। यह कहना, सुनना इतना स्पष्ट होता है, जैसे कि सब कुछ जगते में ही कहा-सुना जाता है। यहाँ तक कि जगने पर भी इसकी स्मृति धुँधली एवं धूमिल नहीं पड़ती।

प्रगाढ़ निद्रा की साधना में भारी उपयोगिता है। इस अवस्था में योग साधक का ज्योति शरीर चेतना के विभिन्न आयामों की यात्रा कर लेता है। सद्गुरु के सान्निध्य में उसके सामने बोध के नवीन आयाम खुलते हैं। जब कभी साधक के जीवन में इस तरह की सूक्ष्म यात्राएँ होती हैं, तो इनके अनुभव बड़े अलौकिक होते हैं। उदाहरण के लिए हिमालय के दिव्य प्रदेशों में गमन, देवलोकों में गमन जैसी अनुभूतियाँ साधकों को अपनी निद्रा में सहज मिलती है। सच तो यह है कि उनके लिए निद्रा जागरण की तुलना में ज्यादा उपयोगी होती है। युगऋषि गुरुदेव कहते थे कि इन अनुभवों को अपने ध्यान का माध्यम बनाकर समाधि को सिद्ध किया जा सकता है।

अभिरुचि के ही अनुरूप हो ध्यान

समाधि की मंजिल तक पहुँचाने वाले अन्तर्यात्रा के इस मार्ग में योग साधक में अनेकों भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन होते हैं। भौतिक एवं रसायन की यह शब्दावली भले ही किसी को अचरज में डाल दे, फिर भी सच को तो कहा ही जाना चाहिए। जो अन्तर्यात्रा में गतिशील हैं, इसके वैज्ञानिक प्रयोगों में स्वयं को खपा रहे हैं, वे इस यथार्थ से सहमत होंगे। हाँ, जिनके लिए ये प्रायोगिक सत्य केवल तर्क का विषय हैं, उन्हें अवश्य हमें अपने सन्दर्भ से अलग मानना पड़ेगा। अन्तर्यात्रा में योग साधक की गति ज्यों-ज्यों तीव्र होती है, त्यों-त्यों उसकी भावनाओं एवं विचारों में गहरे परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों का स्वरूप कुछ इस तरह से बनता, बदलता है कि उसे रूपान्तरण की संज्ञा दी जा सकती है। इन परिवर्तनों के कारण जीवन की रासायनिक क्रिया भी परिवर्तित होती है। और परिवर्तित होता है—व्यक्ति का भौतिक शरीर एवं उसका व्यवहार। जिसे देखा और अनुभव किया जा सकता है।

इस समूचे परिवर्तन की प्रक्रिया का यदि आधार ढूँढें, तो वह एक ही है, पवित्रता के साथ जुड़ी सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया। व्यवहार हो या विचार अथवा फिर अन्तस् की भावनाएँ। योग साधना के साथ ही इनमें पवित्रता की प्रक्रिया घटित होने लगती है। इनसे कषाय-कल्मष एवं कुसंस्कारों का बोझ घटने लगता है। साथ ही बढ़ने एवं विकसित होने लगते हैं- इनके सूक्ष्म प्रभाव। जिसकी आभा अनेकों को अपने घेरे में लेती है। जिसके स्पर्श मात्र से औरों में रूपान्तरण के रासायनिक प्रयोग होने लगते हैं। और अन्ततोगत्वा इसकी परिणति जीवन के भौतिक व्यवहारों तक आए बिना नहीं रहती।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के ये सारे प्रयोग एवं उसकी सूक्ष्मताएँ ध्यान की प्रयोगशाला में घटित होती है। इसी वजह से महर्षि पतंजलि ने ध्यान को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने अपनी कई सूत्रों में इस तकनीक की बारीकियों को उजागर किया है। महर्षि पतंजलि- मानव चेतना के महान् वैज्ञानिक हैं। इसी तरह से परम पूज्य गुरुदेव भी अध्यात्म विज्ञान के महान् प्रयोगकर्त्ता रहे हैं। इस सत्य के अनुरूप ही महर्षि ने अपने अगले सूत्र में ध्यान की विषय वस्तु के दायरे को और अधिक व्यापक किया है। उनका कहना है कि ध्यान की विषय वस्तु को सीमित नहीं किया, इसको काल, स्थान, परिवेश एवं अभिरुचि के अनुसार परिवर्तित भी किया जा सकता है। और इसी परिवर्तन से ध्यान की समूची प्रक्रिया के प्रभावों पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

महर्षि का अगला सूत्र इसी सत्य को उजागर करता है। उनका यह सूत्र है- **यथाभिमतध्यानाद्वा॥ १/३९॥**

शब्दार्थ-यथाभिमतध्यानात् = जिसको जो अभिमत हो, उसके ध्यान से, **वा** = भी (मन स्थिर हो जाता है)।

अर्थात् ध्यान करो किसी उस चीज पर भी, जिसमें तुम्हारी गहरी रुचि हो।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र पहले के सभी सूत्रों से कहीं अधिक गहन एवं व्यापक है। साथ ही इस सूत्र में उनकी वैज्ञानिकता के गहरे रहस्य भी निहित हैं। ध्यान के प्रयोग के लिए विषय वस्तु के चुनाव में अभिमत का, आकर्षण का, गहन रुचि का भारी महत्त्व है। किसी के व्यक्तित्व पर ध्येय को आरोपित नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा हुआ अथवा किया गया, तो ध्यान बोझ बन जाएगा। ध्यान के क्षण विश्रान्ति न बनकर व्यायाम बन जाएँगे। दुर्भाग्यवश होता ऐसा ही है। अपनी मान्यताओं, आग्रहों, प्रतीकों को सभी के ध्यान का विषय बनाने के लिए भारी प्रयत्न किए जाते हैं। यही वजह है कि ध्यान के ज्यादातर प्रयोग अपने सार्थक परिणाम नहीं प्रस्तुत कर पाते।

ध्यान अपने यथार्थ में सम्प्रदाय, मजहब, देश, काल की सीमाओं में बँधा हुआ नहीं है। इसकी असीमता व्यापक है, इसके उद्देश्य उच्चतम है। यह तो व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने वाली औषधि है। इस अर्थ में ध्यान की प्रक्रिया एवं विषय वस्तु का चुनाव प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसी तरह से किया जाना चाहिए, जिस तरह से कोई चिकित्सक अपने मरीज के लिए औषधि चुनता है। समाधान के पहले निदान की प्रक्रिया अनिवार्य है। और निदान तभी सम्भव है, जब व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं एवं उसके गुण-दोषों की सम्यक् जानकारी ली गयी हो।

ध्यान की प्रक्रिया का सच यह है कि ध्यान की विषय वस्तु के प्रति साधक के मन में गहरी आस्था हो। उसके भाव एवं विचार सहज ही उस ओर बहने लगे। ध्यान की विषय वस्तु के चिन्तन एवं स्फुरण मात्र से उसके अन्तस् में उल्लास एवं श्रद्धा तरंगित हो। अपने आप ही उसका विचार प्रवाह ध्यान की विषय वस्तु में विलीन होने के लिए आतुर हो उठे। और ऐसा तभी हो सकता है, जब ध्यान की विषय वस्तु व्यक्ति के अन्तस् की विशेषताओं के अनुरूप हो। उदारण के लिए एक प्रकृति प्रेमी व्यक्ति के लिए प्राकृतिक सौन्दर्य ध्यान की विषय वस्तु बन सकता है। जबकि एक विचारवान् व्यक्ति किसी दार्शनिक विचार पर ध्यान करना अधिक पसन्द करेगा।

नीलगगन में आते हुए सूरज का ध्यान किसी एक के लिए सहज है। जबकि दूसरे की श्रद्धा गोपाल कृष्ण में टिकती है। किसी को भगवान् बुद्ध की ध्यानस्थ मूर्ति संवेदित करती है, तो कोई महापराक्रमी हनुमान् को अपने ध्यान का केन्द्र बनाना चाहता है। इन सबसे अलग किसी की आस्था साकार सीमाओं से अलग व्यापक विराट् निराकार में टिकती है। असीमता का भाव उसमें संवेदनों की सृष्टि करता है। किसी का मन उपनिषदों के तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के चिन्तन में रमता है। यदि प्रश्न यह उठे कि इसमें से श्रेष्ठ क्या है ? तो उत्तर यह होगा कि व्यक्तित्व की विशेषताओं के अनुरूप वह सभी ध्यान श्रेष्ठ है।

इस सम्बन्ध में एक सत्य और है कि ध्यान की विषय वस्तु का चयन उचित है या नहीं? इसका मापन इस बात से भी होता है कि ध्यान करने वाले की चेतना निरन्तर परिमार्जित, पवित्र एवं रूपान्तरित हो रही है या नहीं। पवित्रता एवं रूपान्तरण को ध्यान के प्रभाव की अनिवार्य शर्त एवं परिणति के रूप में परखा जाना चाहिए। ऐसा होने पर ही साधक की ध्यान साधना की सफलता खरी साबित होती है। फिर स्वाभाविक ही उसके जीवन में योग विभूतियाँ अंकुरित-पल्लवित होने लगती हैं।

अतिचेतन तक को वश में कर लेता है ध्यान

अंतर्यात्रा के पथ पर श्रद्धा एवं सम्पूर्ण सामर्थ्य से चल रहे साधक के व्यक्तित्व से कभी ज्ञान के आश्चर्य पल्लवित होते हैं, तो कभी उसमें अचरज में डालनी शक्ति सामर्थ्य नजर आती है। जिसे कभी सुना नहीं गया, जिसके बारे में कभी सोचा नहीं गया, ऐसे कितने ही अचरज साधक के सामने आ खड़े होते हैं। इसी के साथ आती है-अलौकिक शक्तियाँ, जिनमें अपार, अद्‌भुत एवं आश्चर्यपूर्ण सामर्थ्य होती है। अंतर्यात्रा के इस दौर में जो कुछ भी घटित होता है, उसे अनुभव तो किया जा सकता है, पर बताया नहीं जा सकता। यदि उसे बताया भी जाय, तो सुनने वालों को यह सब नानी की कहानी की भाँति लगेगा। तार्किक लोग इसे अविश्वसनीय कहेंगे। और बुद्धिमान लोगों के लिए यह गल्प कथा होगा।

पर महर्षि पतंजलि कहते हैं कि यह उनके लिए सत्य है, जो ध्यान करते हैं, जिनके पास ध्यान की पारसमणि है, उनसे स्वर्ण राशि दूर नहीं, क्योंकि इस लोहे से जीवन की कुरूपता ही सुवर्ण में बदल जाने वाली है।

महर्षि अपने अगले सूत्र में ध्यान के प्रभाव को बताते हुए कहते हैं-

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥ १/४०॥

शब्दार्थ-(उस समय) **अस्य**=इसका (योग साधक का); **परमाणुपरममहत्त्वान्तः** = परमाणु से लेकर परम महत्त्व तक; **वशीकारः** = वशीकार (हो जाता है)।

अर्थात् इस प्रकार योगी अति सूक्ष्म परमाणु से लेकर अपरिसोम तक सभी का वशीकार कर लेता है अर्थात वश में कर लेता है।

इस सूत्र में आश्चर्य तो है, पर ऐसा जो अनिवार्यतः घटित होता है-योग साधक की ध्यान-साधना में। इस सूत्र में निहित भाव इतना ही है कि ध्यान द्वार है अपरिसोम का, अतिचेतन का। जो इस द्वार को खोलना

जानता है, उसके जीवन में सभी असम्भव सम्भव होते हैं। लेकिन यह सब होता तभी है, जबकि साधक को ध्यान की तकनीक में विशेषज्ञता हासिल हो। सामान्यतया देखा यही जाता है कि ध्यान के गहरे विज्ञान से लोगों का परिचय नहीं है। साधारण जनों की बात तो जाने दें, अपने को ध्यानयोगी महात्मा बताने वाले भी ध्यान की यथार्थता व सार्थकता से अपरिचित नजर आते हैं। ध्यान के नाम पर जो होता या किया जाता है, वह प्रायः नींद लाने वाली गोली से अधिक कुछ नहीं होता। ये पंक्तियाँ किसी को बुरी जरूर लग सकती है, पर सत्य को तो सुना व स्वीकारा जाना ही चाहिए।

जिन्हें ध्यान की गहरी अनुभूति है, वे इस सत्य से अवश्य सहमत होंगे कि ध्यान एक गहन आध्यात्मिक शल्य क्रिया है। इसे बड़ी बारीकी एवं समझदारी से करना पड़ता है। यह समूची प्रक्रिया तीन चरणों में सम्पन्न होती है। युग ऋषि परम पूज्य गुरुदेव के अनुसार ध्यान करने से पहले व्यक्ति को ध्यान के लायक होना पड़ता है। ध्यान की यह सुपात्रता ही ध्यान की प्रक्रिया का पहला चरण है- जिसमें शरीर व मन को ध्यान के अनुरूप बनाना पड़ता है। शरीर स्वस्थ, हल्का-फुल्का व निरोग रहे, इसके लिए आवश्यक है-खान-पान का संयम। ध्यानयोगी का भोजन औषधि की भाँति होना चाहिए। जो शरीर को स्वस्थ रखने में तो सहायक हो, परन्तु शरीर को ऐसा न बनाये, जिससे मानसिक चेतना देह पर ही टिकी रहे। शरीर की स्थिति ऐसी हो, जो मन को ऊर्ध्वगामी बनाने में सहायक हो।

इसके बाद अगली स्थिति मन की है। मन की गंगा में विचार व भावनाओं का जल बहता है। इसे प्रदूषण मुक्त करना एवं इस प्रवाह को नियंत्रित करना, इसे ऊर्जा केन्द्र के रूप में परिवर्तित करना ध्यानयोग के साधक की अगली चुनौती है। जिस तरह से नदी के जल पर बाँध बनाकर उस जल के वेग को शक्ति में परिवर्तित किया जाता है। कुछ इसी तरह की चुनौती ध्यान के साधक की भी होती है। यदि जलधारा के वेग को नियंत्रित न किया जा सका, तो इससे टरबाइन चलाना सम्भव नहीं होगा

और फिर विद्युत् उत्पादन न हो सकेगा। ध्यान के साधक को भी अपने विचार व भाव प्रवाह को ध्येय की लय में बाँधना पड़ता है।

निरन्तर प्रयास से ऐसा हो पाता है। पवित्र ध्येय के साथ जब मन लय पूर्ण होता है, तो न केवल विचार एवं भावनाएँ शुद्ध होती हैं, बल्कि उनमें ऊर्जस्विता आती है और ये सचमुच ही लेजर किरणों के पुञ्ज में बदल जाती है। अभी की स्थिति में तो हमारी ऊर्जा टिमटिमाहट की भाँति है, इससे कोई विशेष कार्य नहीं सध सकता। ध्यान की प्रक्रिया में आध्यात्मिक शल्य चिकित्सा के लिए मन की तरंगों का लेजर किरणों के पुञ्ज में परिवर्तित होना अनिवार्य है। यही वह उपकरण है, जिसके प्रकाश में अचेतन की गहराइयों में उतरना सम्भव हो जाता है। इसी के द्वारा अचेतन के संस्कारों की शल्य क्रिया बन पड़ती है। यह प्रक्रिया जटिल है, कठिन है, दुरूह है, दुष्कर है। यह श्रम साध्य भी है और समय साध्य भी।

चेतन मन की तरंगों से जो लेजर किरणों का पुञ्ज तैयार होता है, उसी से अचेतन के संस्कारों को देखना एवं इन्हें हटाना बन पड़ता है। ये संस्कार परत दर परत होते हैं। इनकी परतों में भारी विविधताएँ होती हैं, जो कालक्रम से प्रकट होती हैं। यह विविधता परस्पर विरोधाभासी भी हो सकती है। उदाहरण के लिए एक परत में साधना के संस्कार हो सकते हैं, तो दूसरी में वासना के। एक परत में साधुता के संस्कार हो सकते हैं, तो दूसरी में शैतानियत के। इस सत्य को ठीक तरह से जानने के लिए ध्यान के गहरे अनुभव से गुजरना निहायत जरूरी है।

सामान्य जीवन के उदाहरण से समझना हो, तो यही कहेंगे कि जिस तरह बीज में वृक्ष का समूचा अस्तित्व छिपा होता है, उसी तरह से अचेतन की परतों में मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व समाया होता है। बीज से पहले कोपलें एवं जड़ें निकलती हैं, उसकी कोमलता को देख औसत व्यक्ति यह नहीं सोच सकता कि इस वट बीज में कितना वृहत् आकार छुपा है, परन्तु कालक्रम में धीरे-धीरे सब प्रकट होता है। जेनेटिक्स को जानने वाला कुशल वैज्ञानिक अपने कतिपय प्रक्रियाओं से उसमें कुछ परिवर्तन भी कर

सकता है। ठीक यही बात ध्यान के बारे में है-इस प्रयोग में ध्यान विज्ञानी अचेतन के संस्कारों का आवश्यक परिष्कार, परिमार्जन यहाँ तक कि रूपान्तरण तक करने में समर्थ होते हैं।

इतना ही अचेतन के अँधेरों से निकल अतिचेतन के प्रकाशमय लोक में प्रवेश करते हैं। और तब आती है वह स्थिति, जिसके लिए महर्षि पतंजलि कहते हैं कि योगी हो जाता है मालिक, अतिसूक्ष्म परमाणु से लेकर अपरिसोम तक का। क्योंकि अतिचेतन के पास सारी शक्ति होती है। वह होता है सर्वशक्तिमान, वह होता है सर्वत्र, वह होता है सर्वव्यापी। अतिचेतन के पास वह हर एक शक्ति होती है, जो सम्भव होती है। यह वह स्तर है, जहाँ सारे असम्भव सम्भव बनते हैं।

स्फटिक मणि सा बनाइये मन

यह तथ्य भली भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिये कि असंभव को संभव बनाने वाला अन्तर्यात्रा का विज्ञान उनके लिए ही है, जो अंतर्चेतना के वैज्ञानिक होने के लिए तत्पर हैं। वैज्ञानिक अपनी अनूठी दृष्टि, प्रक्रियाओं एवं प्रयोगों की वजह से विशेष होता है। जिन बातों को, जिन तथ्यों को सामान्य जन यूँ ही कहकर टाल देते हैं, वह अपनी विशेष दृष्टि से उनमें कुछ विशेष की खोज करता है। अपने अनुसंधान के अध्यवसाय से वह इनमें से ऐसे रहस्यों को उजागर करता है, जिनके बारे में कभी जाना, समझा एवं कहा-सोचा नहीं गया था। इन अर्थों में वह साधक होता है, सामान्य और औसत मनुष्यों से अलग। दूसरे अर्थों में योग साधक भी रहस्यवेत्ता वैज्ञानिक होता है। फर्क सिर्फ इतना है कि सामान्य पदार्थ वैज्ञानिक बाह्य प्रकृति एवं पदार्थों को लेकर अनुसंधान करते हैं, जबकि योग साधक आंतरिक प्रकृति एवं चेतना को लेकर अनुसंधान करते हैं। जिस जीवन को साधारण लोग दुःखों का पिटारा या फिर सुख-भोग का साधन समझते हैं, उसमें से वह अलौकिक आध्यात्मिक विभूतियों के मणि-मुक्तकों का अनुसंधान कर लेता है।

ध्यान की परम प्रगाढ़ता संस्कारों की काई-कीचड़ को धो डालती है। हालाँकि यह सब होता मुश्किल है, क्योंकि एक-एक संस्कार को मिटने-हरने में भारी श्रम, समय एवं साधना की जरूरत पड़ती है। इन तक पहुँचने से पहले मन की उर्मियों को शान्त करना पड़ता है। मन की लहरें जब थमती हैं, मन की शक्तियाँ जब क्षीण होती हैं, तभी साधना गहरी व गहन होती है। इसी सत्य को महर्षि ने अपने इस सत्य में स्पष्ट किया है-

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः॥ १/४१॥

शब्दार्थ-क्षीणवृत्तेः = जिसकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे; **मणेः इव अभिजातस्य** = स्फटिक मणि की भाँति निर्मल चित्त का; **ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु** = ग्रहीता (पुरुष), ग्रहण (अंतःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य (पञ्चभूत एवं विषयों) में; तत्स्थतदञ्जनता = स्थित हो जाना और तदाकार हो जाना ही; **समापत्तिः** = सम्प्रज्ञात समाधि है।

अर्थात् जब मन की वृत्तियाँ क्षीण होती हैं, तब मन हो जाता है शुद्ध स्फटिक की भाँति। फिर वह समान रूप से प्रतिबिम्बित करता है—बोधकर्त्ता को, बोध को और बोध के विषय को।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र अपने में अनेकों रहस्य समेटे है। इसका प्रत्येक चरण मूल्यवान् है, इसे सही रीति से समझने के लिए जरूरी है इसके प्रत्येक चरण में अपना ध्यान केन्द्रित करना। इस क्रम में सबसे पहली बात है, मन की वृत्तियों का क्षीण होना। सच तो यह है कि मन का अपना कोई विशेष अस्तित्व नहीं। यह तो बस विचारों-भावों की लहरों का प्रवाह है। इन लहरों की गति एवं तीव्रता कुछ ऐसी है कि मन का अस्तित्व भासता है। सारी उम्र ये लहरें न तो थमती है और न मिटती है। यदि कोई तरीका ऐसा हो कि ये लहरें शान्त हो जाएँ? आम जन के लिए तो ऐसा कठिन है। पर ध्यान इन कठिन को सम्भव बनाता है। ध्यान ज्यों-ज्यों गहरा होता है, मन की लहरें शान्त पड़ती जाती हैं और इस शान्ति के साथ प्रकट होती है-एक अद्भुत स्वच्छता।

जिसे महर्षि कहते हैं शुद्ध स्फटिक की भाँति। परम पूज्य गुरुदेव कहते थे, मन-मन में भेद है। मन कोयला भी है और हीरा भी। विचारों के शोरगुल, विचारों के धूल भरे तूफान में इसका शुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं होता है। ध्यान की गहनता इसे सम्भव बनाती है। जो ध्यान करते हैं, इसे अनुभव करते हैं। यह अनुभूति उन्हें शान्ति भी देती है और ऊर्जा भी। इसी से ज्ञान की नवीन किरणें भी फूटती और फैलती हैं। यह अवस्था कुछ ऐसी है जैसे कि गंगाजल को जब घर एक बाल्टी में लाते हैं, तो उसमें काफी कुछ कीचड़-गन्दगी होती है, परन्तु उसमें फिटकिरी का ढेला दो-

चार बार घुमादें, तो बाद में सारी गन्दगी शान्त और गंगाजल होता है-एकदम निर्मल-स्वच्छ। बस कुछ ऐसे ही मन में ध्यान की फिटकिरी घुमाने की बात है। फिर यह होता है-शुद्ध स्फटिक की भाँति।

यह मन की विशेष अवस्था है, जिसका अहसास केवल उन्हीं को हो सकता है, जिन्होंने इसे जिया हो-अनुभव किया हो। क्योंकि यह मन की वर्तमान अवस्था एवं व्यवस्थता से एकदम उलट है। जहाँ वर्तमान में अज्ञान, अशान्ति एवं असक्ति छायी रहती है, वही इसमें ज्ञान, शान्ति एवं ऊर्जा के नये-नये रूप भासते हैं। जीवन का हरपल-हरक्षण ज्ञानदायी, शान्तिदायी एवं ऊर्जादायी होता है। और यह सब होता है-बिना किसी बाहरी साधन-सुविधाओं की बैशाखी का सहारा लिये। अभी तो स्थिति है कि ज्ञान चाहिए तो पढ़ो, सीखो; शान्ति चाहिए तो शान्त वातावरण तलाशो और शक्ति चाहिए तो शरीर व मन को स्वस्थ रखने की कवायद करो। पर इस अद्‌भुत अवस्था वाला मन तो जब, जहाँ, जिस वस्तु, विषय अथवा विचार पर एकाग्र होता है, वही वह उससे तदाकार हो जाता है। और फिर विषय, वस्तु या विचार में निहित ज्ञान, शान्ति एवं ऊर्जा स्वयमेव उसके अपने हो जाते हैं।

इसमें प्रतिबिम्बित होता है—बोधकर्त्ता, बोध एवं बोध विषय। यानि कि क्षीणवृत्ति वाले मन का साधक जब, जहाँ, जैसे चाहे किसी भी आधार को लेकर समाधिस्थ हो सकता है। इस क्रम में सबसे पहला आधार तो वह स्वयं ही है। वह यदि स्वयं को ही ध्यान का विषय बना ले, तो स्वयं की सभी सूक्ष्मताओं एवं बारीकियों को भली प्रकार अनुभव कर सकता है। वर्तमान आगत एवं विगत सभी उसे स्वयं में भासते हैं। वह अनुभव कर सकता है, वर्तमान के कारणों को और इसके परिणामों को। विचार हों या संस्कार, अपना जन्म-जन्मान्तर का अतीत हो या फिर सुदूर ठिठका हुआ भविष्य सभी उसे स्पष्ट नजर आते हैं।

यही नहीं वह जिसे भी अपने ध्यान का विषय बना ले, उसी के

सभी रहस्यों को अनुभव कर सकता है। तदाकार होने की यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि है। इसके अवलम्बन से किसी भी वस्तु, व्यक्ति, विषय, विचार के यथार्थ को जाना जा सकता है। ऐसे व्यक्ति के ध्यान की एकाग्रता में सब कुछ बड़े स्पष्ट रीति से साफ-साफ प्रतिबिम्बित होता है। ऐसा सम्प्रज्ञात समाधि पाने वाला योगी जब जो चाहे देख-जान सकता है। कहते हैं कि ज्योतिष के मर्मज्ञ अतीत को पहचान लेते हैं और भविष्य की आहट को सुन लेते हैं। परन्तु इसके लिए उन्हें अपने अद्वितीय अनुमानों का सहारा लेना पड़ता है। इस सम्बन्ध में उनकी दृष्टि व अनुभव बहुत ही सीमाओं में बँधे होते हैं।

परन्तु वह योग साधक जिसका चित्त स्फटिक की भाँति स्वच्छ है, उसके संकल्प मात्र से, तनिक सा एकाग्र होने पर से उसे सब कुछ अनुभव होने लगता है। परन्तु इसमें अभी तर्क की सीमाएँ बनी रहती हैं। विकल्प की अवस्था बनी रहती है। वह इस अवस्था को पाने के बाद भी भेदों के पार नहीं जा पाता। सीमाबद्ध होता है, उसका ज्ञान। सीमाओं से मुक्त होने के लिए तो समाधि की निर्वितर्क अवस्था चाहिए।

मंजिल नहीं, पड़ाव है–सवितर्क समाधि

सीमाओं से मुक्त गगन में श्वेत हंस की भाँति साधक उड़ना चाहता है। इसी लिए तो वह अंतर्यात्रा के लिए संकल्पित हुआ था, जिसके प्रयोगों में रहस्यमयता है, किन्तु इनकी परिणति बड़ी स्पष्ट है। जो इन प्रयोगों में संलग्न हैं, वे अपनी अनुभूति में इस सच का साक्षात्कार करते हैं। अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोगों में लवलीन साधक अपनी प्रयोग यात्रा में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके सामने मानव चेतना के नये-नये पहलू उजागर होते हैं। शक्ति एवं ज्ञान के नव स्रोत खुलते हैं। ध्यान की प्रगाढ़ता होते ही योग साधक की अंत:ऊर्जा भी प्रगाढ़ होने लगती है। साथ ही प्रखर होने लगती है उसके ज्ञान की रश्मियाँ। चेतना के उच्चस्तरीय आयाम उसमें झिलमिलाते हैं, झलकते हैं। सवितर्क समाधि में यह झलक और भी तीव्र होती है। परन्तु यह सब कुछ नहीं है। यहाँ से मंजिल का अहसास, आभास तो होता है, पर मंजिल अभी दूर ही रहती है।

हालाँकि यह स्थिति भी योग साधक की पवित्रता की गवाही देती है। वस्तुत: स्फटिक के समान शुद्ध मन में अंतर्प्रज्ञा जाग्रत तो होती है, परन्तु अभी आत्मा का सम्पूर्ण प्रकाश अस्तित्व में नहीं फैल पाता। यहाँ इस अवस्था में ज्ञान का अरुणोदय तो होता है, परन्तु ज्ञान सूर्य की प्रखरता का चरम बिन्दु अभी भी बाकी रहता है। यह स्थिति अँधेरे की समाप्ति की तो है, परन्तु पूरी तरह उजाला होने में अभी भी कसर बाकी रहती है। यह बीच की भावदशा है और कई बार यहाँ बड़े विभ्रम खड़े हो जाते हैं। क्या सच है और क्या नहीं है? यह प्रश्न सदा मन को मथते रहते हैं।

इस भावदशा को बताते हुए महर्षि का सूत्र है–

तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः सकीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥ १/४२॥

शब्दार्थ— तत्र = उनमें; **शब्दार्थज्ञानविकल्पैः** = शब्द, अर्थ, ज्ञान

इन तीनों के विकल्पों से; **संकीर्णा** = संकीर्ण-मिली हुई; **समापत्तिः** = समाधि; **सवितर्का** = सवितर्क है।

अर्थात् सवितर्क समाधि वह समाधि है-जहाँ योगी अभी भी वह भेद करने के योग्य नहीं रहता है, जो सच्चे ज्ञान के तथा शब्दों पर आधारित ज्ञान और तर्क या इन्द्रिय बोध पर आधारित ज्ञान के बीच होता है, क्योंकि यह सब मिली-जुली अवस्था में मन में बना रहता है।

महर्षि पतंजलि के इस सूत्र में योग साधकों के लिए महत्त्वपूर्ण सूचना है, गहरा संदेश है इसमें। और वह संदेश यह है कि ज्ञान का अधिष्ठान तो अपनी आत्मा है। अपने अस्तित्व के केन्द्र में पहुँचे बगैर सही ज्ञान, सही बोध सम्भव नहीं है। जब तक साधक की केन्द्र तक पहुँच नहीं, तब तक उसे ज्ञान के अनुमान मिलते हैं या फिर ज्ञान का आभास। और बहुत हुआ तो ज्ञान की झलकियों की स्थिति बनती है। इन्द्रियाँ जो देखती-सुनती हैं, उससे सच की सही समझ नहीं बन पड़ती। बुद्धि ठहरी अंधे की लाठी। जिस प्रकार अंधा लाठी के सहारे टटोलता है, अनुमान लगाता है, कुछ उसी तरह का। अंधे की समझ हमेशा शंकाओं से भरी होती है। बार-बार वह सच्चे-झूठे तर्कों व शब्दों के सहारे अपनी शंकाओं को दूर करने के लिए कोशिश करता है। परन्तु देखे बिना, सम्यक् साक्षात्कार के बिना भला सच कैसे जाना जा सकता है।

इसके बाद की अवस्था है-बुद्धि के पार की, अंतर्प्रज्ञा के जागरण की। यहाँ मिलती है झलकियाँ, यहाँ खुलता है दिव्य अनुभूतियों का द्वार। यहाँ झलक दिखाता है सच। कुछ यूँ जैसे कि घिरी बदलियों के बीच सूरज अपनी झलक दिखाये और फिर छुप जाये। एक पल का पुण्य आलोक और फिर बदलियों का छत्र अँधेरा। जिसे सवितर्क समाधि कहते हैं, वहाँ ऐसी झलकियों की लुका-छिपी चलती है। बड़ी अद्‌भुत भावदशा है यह। अंतश्चेतना की विचित्र भावभूमि है यहाँ।

यहाँ ज्ञान की कई धाराओं का संगम है। इन्द्रियों का सच, बुद्धि के सच, अंतर्प्रज्ञा का सच, लोकान्तरों के सच और आत्मा का सच। सभी यहाँ

घुलते-मिलते हैं। सवितर्क समाधि में कई रंग उभरते और विलीन होते हैं। समझ में ही नहीं आता कि असली रंग कौन सा है? किसे कहें और किससे कहें कि वास्तविक यही है। जो इससे गुजरे हैं अथवा जो इसमें जी रहे हैं, उन्हीं को इस अवस्था का दर्द मालूम है। क्योंकि बड़े भारी भ्रमों का जाल यहाँ साधक को घेरता है। और अंतस् में होती है गहरी छटपटाहट। समझ में ही नहीं आता कि सच यह है कि वह। यहाँ तक कि स्वयं अपने जीवन, चरित्र एवं चेतना के बारे कई तरह की शंकाएँ घर करने लगती है।

योग साधक के लिए यह अवस्था बड़ी खतरनाक होती है। इतने सारे चित्र-विचित्र रंगों का गर्दो-गुबार उसे पागल कर सकता है। यहाँ चाहिए उसे सद्गुरु की मदद। जो उसे सभी भ्रमों से उबार के बचा लें। अराजकता का जो तूफान यहाँ उठ रहा है, उससे उसे निकाल लें। सद्गुरु ही सहारा और आसरा होते हैं यहाँ पर साधक के लिए। क्योंकि यह अवस्था कोई एक दिन की नहीं है। कभी-कभी तो यहाँ कई साल और दशक भी लग जाते हैं और गुरु का सहारा न मिले तो कौन जाने साधक को पूरा जीवन ही यहाँ गुजारना पड़े। पशु, मनुष्य और देवता सभी तो मिल जाते हैं यहाँ। अज्ञानी-ज्ञानी एवं महाज्ञानी सभी का जमघट लगता है यहाँ पर।

अनुभवी इस सच को जानते हैं कि अपने अस्तित्व में परिधि से केन्द्र तक बहुत अवस्थाएँ हैं। जो एक के बाद एक नये-नये रूपों में प्रकट होती है। यह अंतर्यात्रा योग साधक के जीवन में सम्पूर्ण रहस्यमय विद्यालय बनकर आती है। एक कक्षा के बाद दूसरी कक्षा। बोध के बदलते स्तर एवं बनती-मिटती सीमाएँ। बाल विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय तक सारे स्तर यहाँ अपने अस्तित्व में खुलते बन्द होते हैं। इन सभी स्तरों को एक के बाद उत्तीर्ण करना बड़ा कठिन है। अनुभव तो यही कहता है कि सद्गुरु के बिना इस भँवर से शायद ही कोई विरला निकल पाये।

सद्गुरु कृपा हि केवलम्। सवितर्क से निवितर्क तक मार्ग है। सवितर्क समाधि तक तो अनेकों आ पहुँचते हैं। पर निवितर्क तक कोई

विरला ही पहुँच पाता है। इन्द्रिय अनुभूति से सवितर्क की अवस्था कठिन तो है, पर सम्भव है। पर सवितर्क से निर्वितर्क की अवस्था अति जटिल है। योग सूत्रों के बौद्धिक व्याख्याकार भले ही कुछ कहते रहें, भले ही वे इन दोनों अवस्थाओं में मात्र एक अक्षर का अंतर माने, पर यहाँ की सच्चाई कुछ और ही है। यहाँ तक कि यहाँ होने वाली एक हल्की सी भूल भी साधक की सम्पूर्ण साधना का समूचा सत्यानाश कर सकती है। ज्यादातर साधक इसी बिन्दु पर आकर या तो उन्मादी हो जाते हैं या पतित।

यहाँ उपजने वाले भ्रम साधकों को उन्मादी बनाते हैं और किसी पूर्व समय के दुष्कृत कर्मबीज साधकों को पतन के अँधेरों में ढँक देता है। बड़ी पीड़ादायक अवस्था है यह। संयम के साथ जितनी सावधानी यहाँ अपेक्षित है, उतनी शायद कहीं भी और कभी भी नहीं होती।

सत्य का साक्षात्कार है-निर्वितर्क समाधि

अंतर्यात्रा के विज्ञान का सार-परिष्कार है। परिष्कार की साधना के सघन एवं गहन होने से अंतर्यात्रा का पथ प्रशस्त होता है। इसके वैज्ञानिक प्रयोगों में सुगमता आती है। साधकों एवं सामान्य जनों में योग साधना के जटिल एवं दुरूह होने की बात कही-सुनी जाती है। यह सच तो है किन्तु आधा-पूरा सच यह है कि योग साधना में विघ्न एवं अवरोध वहाँ आते हैं, जहाँ परिष्कार-परिशोधन की उपेक्षा-अवहेलना की जाती है। जो अपनी अंतरसत्ता के परिष्कार में तत्पर हैं, उनके लिए अंतर्यात्रा का यह पथ सुगम-सरल एवं आनन्ददायक है। उनकी साधना के अनुरूप यह आनन्द तीव्र होता जाता है, प्रवृत्तियाँ प्रकाशित होती जाती है और बोध के स्वर फूटने लगते हैं। क्रमिक रूप से विकल्पों एवं वितर्कों में क्षीणता आने लगती है।

सवितर्क से ही निर्वितर्क समाधि की राह खुलती है। इस परिशुद्ध स्थिति के बारे में महर्षि कहते हैं-

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥१/४३॥

शब्दार्थ-स्मृतिपरिशुद्धौ = (शब्द एवं प्रतीति की) स्मृति के भलीभाँति लुप्त हो जाने पर; **स्वरूपशून्या** = अपने स्वरूप से शून्य रुई के; **इव** = सदृश; **अर्थमात्र निर्भासा** = केवल ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाली (चित्त की स्थिति ही), **निर्वितर्का** = निर्वितर्क समाधि है।

भावार्थ- जब स्मृति परिशुद्ध होती है और मन किसी अवरोध के बिना वस्तुओं की यथार्थता देख सकता है, तब निर्वितर्क समाधि फलित होती है।

महर्षि पतंजलि ने अपने इस सूत्र में निर्वितर्क समाधि के लिए बड़ा सहज राजमार्ग सुझाया है। यह राजमार्ग है-स्मृति के परिशोधन का। इसे प्रकारान्तर से स्मृतिलय या मनोलय भी कह सकते हैं। अभी हम जो कुछ भी हैं, हमारा व्यक्तित्व, हमारी स्थिति स्मृति के कारण है। सार रूप में यह

यादों से बने और यादों से घिरे हैं। हमारे कल के अनुभवों ने हमें कुछ यादें दी हैं, कल होने वाले अनुभव भी हमें कुछ यादें देंगे। इन यादों के कई रंग एवं कई रूप हैं। इन्हीं सबसे हमारे व्यक्तित्व की परतें सजी हैं। हमारे व्यक्तित्व का बहुआयामी रूप इन्हीं के कारण हैं।

युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि स्मृति के दोहरे अर्थ हैं। एक अर्थ-सामान्य, साधारण है और एक है— विशिष्ट, आध्यात्मिक। सामान्य साधारण अर्थ में स्मृति हमारा पिछला कल है, आज का वर्तमान है। लेकिन इसका दायरा हमारे वर्तमान जीवन तक सीमित है। आज के रिश्ते-नाते, इनकी खटास-मिठास, बीता हुआ बचपन, कहीं खो चुकी या खो रही किशोरवय, स्मृतियों के पिटारे में ही तो कैद है। अगर किसी तरह इसका लोप हो जाय, तो प्रकारान्तर से हम ही लुप्त हो जायेंगे।

स्मृति के इस सिलसिले से परे इनका एक आध्यात्मिक पहलू है। जिसमें हमारा सम्पूर्ण अतीत बँधा है। इसमें पिरोये हैं—हमारे अनगिनत जन्म, हमारे सभी कर्मबीज। हमारे आग्रह, हमारी मान्यताएँ, हमारी सोच, हमारा दृष्टिकोण। योग साधना में इसी का शोधन करना है। इस तथ्य को पतंजलि स्मृति शुद्धि कहते हैं। इसे ही आचार्य शंकर ने चित्तशुद्धि कहा है। स्मृति का यह जमावड़ा-जखीरा वस्तुतः हम पर बोझ है। इसे हल्का करने की जरूरत है। स्मृति की यह अशुद्धि ही प्रकारान्तर से हमारे जीवन की विकृति है। इसे धोये बिना, इसे जलाये-गलाये बिना आध्यात्मिक पथ प्रशस्त नहीं होता।

स्मृति परिशुद्धि या चित्तशुद्धि की यह यात्रा बड़ी दुःखदायी है। यह धधकती आग का वह दरिया है, जिसे प्रत्येक साधक को पार करना पड़ता है। यही यथार्थ साधना है, सच यह भी है कि इसी में सभी साधनाओं की सार्थकता है। इसके अभाव में सभी साधनाएँ निरर्थक हैं। इसे किये बिना जप, मंत्र, योग, तप किसी का कोई मूल्य नहीं है। योग और तंत्र में कई बार कई चमत्कारी संतों की कथाएँ कहीं सुनी जाती हैं। परन्तु इनमें से किसी भी चमत्कार से चित्तशुद्ध नहीं होता। यह ऐसा चमत्कार है, जिसे योग साधक को स्वयं करना पड़ता है।

कैसे करें स्मृति परिशोधन अथवा चित्तशुद्धि ? क्या विधान है इसका ? यह प्रश्न सभी साधकों का है। युगऋषि गुरुदेव के शब्दों में इसका उत्तर है- अपार धैर्य के साथ निष्काम कर्म। इसी के साथ अनवरत निष्काम एवं सतत तप। यही मार्ग है। एक सम्पूर्ण जीवन को लगाये-खपाये बगैर किसी के द्वारा यह साधना सम्भव नहीं। जो इसके विपरीत किसी अन्य विधि से निर्वितर्क की यात्रा करना चाहते हैं, वे केवल दिवास्वप्न देखते हैं। विश्व ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं, जो निष्काम कर्म एवं तप के बिना इस मंजिल तक पहुँचा दे।

यहाँ तक कि समर्थ गुरु एवं इष्ट-आराध्य भी अपने शिष्य-सेवक को इसी मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित-प्रवर्तित करते हैं। थकने पर उसे हिम्मत देते हैं, गिरने पर उसे उठाते हैं, हताश होने पर साहस देते हैं। इस सबके बावजूद चलना तो स्वयं को ही पड़ता है। अपने सिवा और कोई नहीं चलता। यह ऐसी सच्चाई है, जिसे वही जानते हैं, जो जीते हैं। चित्त का एक-एक संस्कार, एक-एक कर्मबीज अपने भोग पूरे करवाने में कभी-कभी तो वर्षों ले लेता है। कई बार तो इस पथ पर बड़ी नारकीय यातनाएँ एवं दारुण परिस्थितियाँ सहन करनी पड़ती है। पर करें भी तो क्या ? अन्य कोई चारा भी तो नहीं।

इस पूरी प्रक्रिया में जन्म-जन्मान्तर के कुसंस्कारों की कालिख रह-रह कर बाहर फूटती है। कठिन-कठोर तप से उसका प्रशमन होता है। गुरुकृपा के झूठे मद में फूले हुए लोग जो इस दौरान् तप से मुँह मोड़ते हैं, वे कुसंस्कारों की देन को सम्भालने में नाकाम रहते हैं। दूषित चरित्र ही ऐसों की नियति होती है। ये हतभागी जन अपने जन्मों से कमायी गयी प्राण ऊर्जा को वासनाओं के खेल में खर्च करते हैं। इसलिए निष्काम कर्म एवं तप ही सत्य की ओर बढ़ने का राजमार्ग है। जो इस सत्य को जीते हैं, वे अपने गुरु की कृपा एवं आराध्य के अनुदानों का सच्चा लाभ उठाते हैं। उन्हीं को समाधि की उच्चतर अवस्थाओं को पाने का सौभाग्य मिलता है।

❖❖❖❖❖❖

ध्यान की अनुभूतियों द्वारा ऊर्जा स्नान

अन्तर्यात्रा के मार्ग पर चलने वाले सौभाग्यशाली होते हैं। यह मार्ग अपने प्रयोगों में निरन्तर सूक्ष्म होता जाता है। व्यवहार के प्रयोग विचारों की ओर और विचारों के प्रयोग संस्कारों की ओर सरकने लगते हैं। व्यवहार को रूपान्तरित, परिवर्तित करने वाले यम-नियम के अनुशासन, शरीर व प्राण को स्थिर करने वाली आसन एवं प्राणायाम की क्रियाओं की ओर गतिशील होते हैं। यह गतिशीलता प्रत्याहार व धारणा की आंतरिक गतियों की ओर बढ़ती हुई ध्यान की सूक्ष्मताओं में समाती है। इसके बाद शुरू होता है-ध्यान की सूक्ष्मताओं के विविध प्रयोगों का आयोजन। कहने को तो ध्यान की विधा एक ही है, परन्तु इसके सूक्ष्म अन्तर-प्रत्यन्तर अनेकों हैं। जो इन्हें जितना अधिक अनुभव करते हैं, उनकी योग साधना उतनी ही प्रगाढ़ परिपक्व एवं प्रखर मानी जाती है।

इस प्रगाढ़ता, परिपक्वता एवं प्रखरता के अनुरूप ही साधक को समाधि के समाधान मिलते हैं। ध्यान की सूक्ष्मता जितनी अधिक होती है, समाधि उतनी ही उच्चस्तरीय होती है। सवितर्क-निर्वितर्क, इसके बाद सविचार एवं निर्विचार। महर्षि पतंजलि के अनुसार समाधि के ये अलग-अलग स्तर साधक की साधना की अलग एवं विशिष्ट स्थितियों की व्याख्या करते हैं। महर्षि अब सूक्ष्म ध्येय में होने वाली सम्प्रज्ञात समाधि के भेद बतलाते हैं-

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ १/४४॥

शब्दार्थ- एतया एव = इसी से (पूर्वोक्त सवितर्क और निर्वितर्क के वर्णन से ही); **सूक्ष्म विषया** = सूक्ष्म पदार्थों में की जाने वाली; **सविचारा** =सविचार (और); **निर्विचारा** = निर्विचार समाधि का; च = भी; **व्याख्याता** = वर्णन किया गया।

भावार्थ - सवितर्क और निर्वितर्क समाधि का जो स्पष्टीकरण है, उसी से समाधि की उच्चतर स्थितियाँ भी स्पष्ट होती हैं। लेकिन सविचार और निर्विचार समाधि की इन उच्चतर अवस्थाओं में ध्यान के विषय अधिक सूक्ष्म होते हैं।

महर्षि के इस सूत्र में ध्यान के सूक्ष्म एवं गहन प्रयोगों का संकेत है। यह सच है कि ध्यान की प्रगाढ़ता, निरन्तरता एवं ध्येय में लय का नाम ही समाधि है। परन्तु ध्येय क्या एवं लय किस प्रकार? इसी सवाल के सार्थक उत्तर के रूप में समाधि की उच्चस्तरीय स्थितियाँ प्रकट होती हैं। इस सत्य को व्यावहारिक रूप में परम पूज्य गुरुदेव के अनुभवों के प्रकाश में अपेक्षाकृत साफ-साफ देखा जा सकता है। युगऋषि गुरुदेव ने नये एवं परिपक्व साधकों के लिए इसी क्रम में ध्यान के कई रूप एवं उनके स्तर निर्धारित किये थे।

ध्यान के साधकों के लिए उन्होंने पहली सीढ़ी के रूप में वेदमाता गायत्री के साकार रूप का ध्यान बतलाया था। सुन्दर, षोडशी युवती के रूप में हंसारूढ़ माता। गुरुदेव कहते थे कि जो सर्वांग सुन्दर नवयुवती में जगन्माता के दर्शन कर सकता है, वही साधक होने के योग्य है। छोटी बालिका में अथवा फिर वृद्धा में माँ की कल्पना कर लेना सहज है, क्योंकि ये छवियाँ सामान्यतया साधक के चित्त में वासनाओं को नहीं कुरेदती। परन्तु युवती स्त्री को जगदम्बा के रूप में अनुभव कर लेना सच्चे एवं परिपक्व साधकों का ही काम है। जो ऐसा कर पाते हैं, वही ध्यान साधना में प्रवेश के अधिकारी हैं। हालाँकि यह ध्यान का स्थूल रूप है, परन्तु इसमें प्रवेश करने पर ही क्रमशः सूक्ष्म परतें खुलती हैं।

इस ध्यान को सूक्ष्म बनाने के लिए ध्यान की दूसरी सीढ़ी है कि उन्हें उदय कालीन सूर्यमण्डल के मध्य में आसीन देखा जाय। और सविता की महाशक्ति के रूप में स्वयं के ध्यान अनुभव को प्रगाढ़ किया जाय। ऐसे ध्यान में मूर्ति अथवा चित्र की आवश्यकता नहीं रहती। बस विचारों एवं भावों की तद्विषयक प्रगाढ़ता ही सविता मण्डल में मूर्ति बनकर झलकती

है। जो इसे अपने ध्यान की प्रक्रिया में ढालते हैं, उन्हें अनुभव होता है कि सविता देव एवं माँ गायत्री एकाकार हो गये हैं। यहाँ ध्यान की सूक्ष्मता तो है, परन्तु स्थूल आधारों से प्रकट हुई सूक्ष्मता है। फिर भी इस सूक्ष्म स्थिति को पाने के बाद साधक की चेतना में विशिष्ट परिवर्तन अनुभव होने लगते हैं।

ध्यान साधना के इस क्रम में अगला क्रम भी है, जो अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म है। सविता देव के भर्ग का ध्यान। ध्यान का यह विशिष्ट एवं अपेक्षाकृत सूक्ष्म अभ्यास है। सविता का यह भर्ग, प्रकाश पुञ्ज के रूप में सविता की महाशक्ति है। इसे धारण करना विशिष्ट साधकों के ही बस की बात है। माँ गायत्री यहाँ सृष्टि की आदि ऊर्जा के रूप में अनुभव होती है। जो इसे जानता है-वही जानता है। ध्यान के इस रूप में साधक की मनोवृत्तियों का लय एक विशिष्ट उपलब्धि है। इस अवस्था में होने वाली समाधि साधक को अलौकिक शक्तियों का अनुदान देती है।

इसके बाद ध्यान का एक नया रूप-नया भाव प्रकट होता है। यह ध्यान विधि अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म है। यहाँ सविता देव के साकार रूप को प्रकट करने वाली महाशक्ति आदि ऊर्जा का साक्षात् होता है। यह अवस्था साधकों की न होकर सिद्धों की है। माँ गायत्री की सृष्टि की आदि ऊर्जा के रूप में ध्यानानुभूति। इसे वही कर सकते हैं, जिनके स्नायु वज्र में ढले हैं। जो अपने तन-मन एवं जीवन को रूपान्तरित कर चुके हैं। परम पूज्य गुरुदेव अपनी भाव चेतना में ध्यान एवं समाधि की इसी विशिष्ट अवस्था में जीते थे। इस ध्यान से उन्हें जो मिला था, उसे बताते हुए वह कहते थे कि मेरे रोम-रोम में शक्ति के महासागर लहराते हैं।

ध्यान एवं समाधि का यह स्तर पाना सहज नहीं है। यहाँ जो समाधि लगाते हैं, वे न केवल सृष्टि की महाऊर्जाओं में स्नान करते हैं, बल्कि स्वयं भी ऊर्जा रूप हो जाते हैं। उनकी देह भी रूपान्तरित हो जाती है। यहाँ विचार नहीं बचते, सभी तर्कों का यहाँ लोप होता है। यहाँ न तो रूप है, न आधार, न तर्क है, न विचार। बस शेष रहता है, तो केवल अनुभव। इसे जो जीते हैं, वही जानते हैं। जो जानते हैं, वे भी पूरा का पूरा नहीं बता

पाते। समझने वालों को संकेतों में ही समझना पड़ता है। देखने वालों को केवल इशारे दिखाये जा सकते हैं। और जो इन्हें देखकर सुन्दर इस डगर पर आगे बढ़ते हैं-वे न केवल उपलब्धियाँ पाते हैं, बल्कि उनका स्वयं का जीवन भी एक महाउपलब्धि बन जाता है, जिसमें जिंदगी का असल अर्थ छिपा है।

अंतर्यात्रा के पथ पर चलने वाले योग साधक में सतत सूक्ष्म परिवर्तन घटित होते हैं। उसका अस्तित्व सूक्ष्म ऊर्जाओं के आरोह-अवरोह एवं अंतर-प्रत्यन्तर की प्रयोगशाला बन जाता है। योग साधक के लिए यह बड़ी विरल एवं रहस्यमय स्थिति है। ध्यान की प्रगाढ़ता में होने वाले इन सूक्ष्म ऊर्जाओं के परिवर्तन से जीवन की आंतरिक एवं बाह्य स्थिति परिवर्तित होती है। इन ऊर्जाओं में परिवर्तन साधक के अंदर एवं बाहर भारी उलट-पुलट करते हैं। साकार सहज ही निराकार की ओर बढ़ चलता है।

इस तत्त्व का प्रबोध करते हुए महर्षि कहते हैं-

सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्॥ १/४५॥

शब्दार्थ-च = तथा; **सूक्ष्मविषयत्वम्** = सूक्ष्म विषयता; **अलिंगपर्यवसानम्** = प्रकृति पर्यन्त है।

भावार्थ- इन सूक्ष्म विषयों से सम्बन्धित समाधि का प्रान्त सूक्ष्म ऊर्जाओं की निराकार अवस्था तक फैलता है।

महर्षि के इस सूत्र में ध्यान की प्रक्रिया की गहनता का संकेत है। कर्मकाण्ड की पूजा-प्रक्रिया में पदार्थ का ऊर्जा में परिवर्तन होता है। पदार्थों का इस विधि से समायोजन, संकलन एवं विघटन किया कि उनसे आध्यात्मिक ऊर्जा की प्राप्ति हो सके। इस पूजा-प्रक्रिया से पाठ एवं मंत्र के प्रयोग कहीं अधिक सूक्ष्म है। इनमें शब्दशक्ति का अनन्त आकाश में स्फोट होता है। इससे भी कहीं सूक्ष्म है ध्यान। इसमें विचार एवं भाव ऊर्जाओं में सघन परिवर्तन घटित होते हैं। ये परिवर्तन आत्यन्तिक आश्चर्य में होते हैं। इस सम्बन्ध में आध्यात्मिक तथ्य यह है कि साधक की

एकाग्रता, आंतरिक दृढ़ता जितनी सघन है, उसमें आध्यात्मिक ऊर्जा का घनत्व जितना अधिक है, उसी के अनुपात में वह इन परिवर्तनों को सहन कर सकता है।

योग की इस साधनाभूमि में साधक को बहुत ही सक्रिय, सजग एवं समर्थ होना पड़ता है, क्योंकि ध्यान योग के प्रयोग में सूक्ष्म ऊर्जाएँ कुछ इस ढंग से परिवर्तित-प्रत्यावर्तित होती हैं कि इनसे साधक की समूची प्रकृति प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। इन ऊर्जाओं से संस्कार बीज भी प्रेरित-प्रभावित होते हैं। ऐसे में योग साधक के पास इसके परिणामों को सम्हालने के लिए बड़े प्रभावकारी आध्यात्मिक बल की आवश्यकता है। इसके बिना कहीं भी-कुछ भी अघटित घट सकता है।

ये सूक्ष्म ऊर्जाएँ जब साधक के अस्तित्व को प्रभावित करती हैं, तो बड़ी जबरदस्त उथल-पुथल होती है। संस्कार बीजों के असमय कुरेदे जाने से जीवन में कई ऐसी घटनाएँ घटने लगती हैं, जो सहज क्रम में अभी असामयिक है। ये घटनाएँ शुभ भी हो सकती हैं और अशुभ भी। कई तरह की दुर्घटनाएँ व जीवन में विचित्र एवं संताप देने वाले अवसर आ सकते हैं। यह योग अवस्था भू-गर्भ में किये जाने वाले पारमाणविक बिस्फोट के समान हैं, जिसके सारे प्रभाव भू-गर्भ तक ही सीमित रखे जाने चाहिए। इसके थोड़े से भी अंश का बाहर आना साधक के अस्तित्व के लिए, उसके शरीर के लिए खतरा हो सकता है। इसके लिए साधक के पास उस बल का होना आवश्यक है, जो इसके प्रभावों का नियमन कर सके। हालाँकि ये घटनाएँ, ये परिवर्तन जिस अवस्था तक होती है, वह समाधि की सबीज अवस्था ही है।

ध्यान का अगला चरण है–समर्पण

जीवन को असल अर्थ देने वाली अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग सूक्ष्म हैं। इनकी विधि, क्रिया एवं परिणाम योग साधक की अन्तर्चेतना में घटित होते हैं। इस सम्पूर्ण उपक्रम में स्थूल क्रियाओं की उपयोगिता होती भी है, तो केवल इसलिए ताकि साधक की भाव चेतना इन सूक्ष्म प्रयोगों के लिए तैयार हो सके। एक विशेष तरह की आंतरिक संरचना में ही अन्तर्यात्रा के प्रयोग सम्भव बन पड़ते हैं। बौद्धिक योग्यता, व्यवहार कुशलता अथवा सांसारिक सफलताएँ इसका मानदण्ड नहीं हैं। इन मानकों के आधार पर किसी को साधक अथवा योगी नहीं बनाया जा सकता। इसके लिए महत्त्वपूर्ण है—चित्त की अवस्था विशेष, जो अब निरुद्ध होने के लिए उन्मुख है। चित्त में साधना के सुसंस्कारों की सम्पदा से मनुष्य में न केवल मनुष्यत्व जन्म लेता है, बल्कि उसमें मुमुक्षा भी जगती है।

पवित्रता के प्रति उत्कट लगन ही व्यक्ति को अन्तर्यात्रा के लिए प्रेरित करती है। और इस अन्तर्यात्रा के लिए गतिशील व्यक्ति धीरे-धीरे स्वयं ही पात्रता के उच्चस्तरीय सोपानों पर चढ़ता जाता है। उसे अपने प्रयोगों में सफलता मिलती है। अन्तस् में निर्मलता, पवित्रता का एक विशेष स्तर हो, तभी प्रत्याहार की भावदशा पनपती है। इसके प्रगाढ़ होने पर ही धारणा परिपक्व होती है। और तब प्रारम्भ होता है ध्यान का प्रयोगात्मक सिलसिला। मानसिक एकाग्रता, चित्त के संस्कारों का परिष्कार, अन्तस् की ग्रन्थियों से मुक्ति के एक के बाद एक स्तरों को भेदते हुए अन्तिम ग्रन्थि भेदन की प्रक्रिया पूरी होती है। इसी बीच योग साधक की अन्तर्चेतना में ध्यान के कई चरणों व स्तरों का विकास होता है। सबीज समाधि की कई अवस्थाएँ फलित होती हैं। महर्षि पतंजलि के पिछले सूत्र में भी इसी की एक अवस्था का चिन्तन किया गया था। इस सूत्र में कहा

गया था कि सवितर्क और निर्वितर्क समाधि का जो स्पष्टीकरण है, उसी से समाधि की उच्चतर स्थितियाँ भी स्पष्ट होती हैं। लेकिन सविचार एवं निर्विचार समाधि की इन उच्चतर अवस्थाओं में ध्यान के विषय अधिक सूक्ष्म होते जाते हैं। ध्यान की इस सूक्ष्मता के अनुसार ही ध्यान की प्रभा और प्रभाव दोनों ही बढ़ते जाते हैं। इसी के अनुसार साधक की मानसिक एवं परामानसिक शक्तियों का विकास भी होता है। परन्तु आध्यात्मिक प्रसाद अभी भी योग साधक से दूर रहता है। इसके लिए अभी भी अन्तर्चेतना की अन्तिम निर्मलता अनिवार्य बनी रहती है।

महर्षि पतंजलि ने अपने इस नए सूत्र में इन्हीं पूर्ववर्ती अवस्थाओं का समावेश करते हुए कहा है-

ता एव सबीजः समाधिः ॥ १/४६ ॥

शब्दार्थ- ता एव = वे सब की सब ही; **सबीजः**= सबीज; **समाधिः** = समाधि हैं।

भावार्थ- ये समाधियाँ जो फलित होती हैं, किसी विषय पर ध्यान करने से वे सबीज समाधियाँ होती हैं।

इन सभी सबीज समाधियों में क्रमिक रूप से मानसिक विकास भी होता है और परिष्कार भी, परन्तु मन तो रहता है। चित्त में निर्मलता आती है, परिशोधन भी होता है, परन्तु चित्त का विलय बाकी बचा रहता है। जीव और शिव में भेद करने वाली अहं की अन्तिम गाँठ अभी भी नहीं खुल पाती। यौगिक शक्तियाँ एवं सिद्धियाँ तो इन सभी समाधियों में क्रमिक रूप से प्रस्फुरित होती हैं, परन्तु इन सिद्धियों एवं शक्तियों का प्रकृति लय अभी भी बचा रहता है। इन समाधियों में आत्मतत्त्व की झलकियाँ तो मिलती हैं, पर आध्यात्मिक साम्राज्य की प्रतिष्ठा होनी अभी भी बाकी रहती है।

इस गूढ़ रहस्य को अपनी सहज अनुभूति के स्वरों में ढालते हुए युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि ध्यान कितना भी और कैसा भी क्यों न हो पर वह मानसिक क्रिया के अलावा और क्या है ? इस ध्यान

की परिणति जिस समाधि में होती है, उससे चित्त का परिष्कार होता है, चक्रों को पार करते हुए आज्ञाचक्र में अवस्थित हो गयी।

उनके ध्यान में महिमामयी माँ काली की दिव्य लीलाएँ विहरने लगी। भाव विह्वल **श्रीरामकृष्ण** देव की समाधि प्रगाढ़ हो गयी। परन्तु साकार से निराकार, सबीज से निर्बीज तक पहुँचना अभी भी बाकी था। तोतापुरी ने निर्देश दिया- आगे बढ़ो। श्रीरामकृष्णदेव ने कहा- माँ को छोड़कर? तोतापुरी ने कहा- हाँ, ज्ञान की तलवार लेकर काली के शतखण्ड करो और अखण्ड निराकार के धाम में प्रवेश करो। अनेकों प्रयास के बावजूद श्रीरामकृष्ण यह न कर सके। उनका निर्मल चित्त भी ध्यान की उच्चस्तरीय सूक्ष्मता से मुक्ति न पा सका। मनोलय न सध सका। मन के आँगन में, चित्त के अन्तःप्रकोष्ठ में चित्शक्ति की लीलाएँ चलती रहीं।

और तोतापुरी ने अपने हाथों में एक नुकीले पत्थर का टुकड़ा लिया और उससे भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र को तीव्रतापूर्वक दबाया- और साथ ही उन्हें निर्देश दिया- पार करो अन्तिम बाधा, उठाओ ज्ञान की तलवार और भेदन करो चित्शक्ति, खोलो ब्रह्म की अनन्तता के द्वार। इस बार का निर्देश श्रीरामकृष्ण के अस्तित्व में व्याप गया। और फिर पल भर में सब कुछ घटित हो गया, वे परमहंस हो गए। शुद्ध, बुद्ध, नित्य-निरंजन, महामाया ने अपनी माया समेट कर उन्हें निर्बीजता में प्रवेश दे दिया।

परम शुद्ध को मिलता है अध्यात्म का प्रसाद

यही निर्बीजता योग साधक का अन्तिम लक्ष्य है। अन्तर्यात्रा विज्ञान अस्तित्व में क्रियाशील रहे, तो यह अध्यात्म प्रसाद मिले बिना नहीं रहता। व्यवहार में परिस्थितियों से गहरा सामञ्जस्य, शरीर की स्थिरता, प्राणों की समधुर लय अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोगों की पृष्ठभूमि तैयार करती है। मन की एकाग्र, स्थिर एवं शान्त स्थिति में पवित्र धारणाओं के पुष्प मुस्कराते हैं। और तब शुरू होता है— चित्त के संस्कारों का परिशोधन। गहरे में अनुभव करें, तो यही संस्कार बीज हमारे जीवन में प्रवृत्ति एवं परिस्थितियों की फसल रचते हैं। इसीलिए सभी अध्यात्मवेत्ता अपने मार्गों की भिन्नता के बावजूद चित्त के परिशोधन को साधना जीवन का मुख्य कर्त्तव्य बताते रहे हैं। चित्त को समझना एवं सँवारना ही तप है और इसकी आत्मतत्त्व में विलीनता ही योग।

अब भवचक्र की बेड़ियों को तोड़ने के विषय में महर्षि पतंजलि कहते हैं-

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः॥ १/४७॥

शब्दार्थ-निर्विचारवैशारद्ये= निर्विचार समाधि में विशारद होने पर (योगी को) **अध्यात्मप्रसादः**= अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है।

भावार्थ- समाधि की निर्विचार अवस्था की परमशुद्धता उपलब्ध होने पर प्रकट होता है—अध्यात्म प्रसाद।

महर्षि पतंजलि ने अपने सूत्रों में अध्यात्म विज्ञान के गहरे निष्कर्ष गूँथे हैं। यह निष्कर्ष भी बड़ा गहन है। इसमें निर्विचार समाधि के तत्त्व को उन्होंने प्रकट किया है। महर्षि अपने योगदर्शन में बड़ी स्पष्ट रीति से समझाते हैं कि योग की यथार्थता- सार्थकता ध्यान में फलित होती है। इसके पूर्व जो भी है- वह सब तैयारी है ध्यान की। यह ध्यान गाढ़ा हुआ

तो समाधि फलती है। और समाधि को विविध अवस्थाओं में सबसे पहले आती है- संप्रज्ञात अवस्थाएँ। ये संप्रज्ञात समाधियाँ हालाँकि सबीज है, फिर भी इसमें निर्विचार का मोल है। इसमें विचारों की लहरों से चित्त मुक्त होता है। बुद्धि के भ्रम दूर होते हैं। कर्म-क्लेश भी शिथिल होते हैं। इसकी प्रगाढ़ता में चित्त स्वच्छ हो जाता है, दर्पण की भाँति। और तब इसमें झलक उठती है—आत्मा की छवि। यही तो अध्यात्म का प्रसाद है।

इस सूत्र का सार कहें या फिर योग के सभी सूत्रों का सार- महर्षि पतंजलि के प्रतिपादन की मुख्य विषय वस्तु चित्त है। चित्त की अवस्थाएँ, इसमें आने वाले उतार-चढ़ाव, इसमें जमा होने वाले कर्मबीज, इन्हीं की तो शुद्धि करनी है। व्यवहार के रूपान्तरण, परिवर्तन से करें या फिर ध्यान की तल्लीनता से कार्य एक ही है- चित्त का शोधन। इसकी अशुद्धि के यूँ तो कई रूप है, पर मूल रूप एक ही है- संस्कार बीज। इन्हीं को चित्त की गहराई में जाकर खोजना है, खोदना है, बाहर निकालना है, जलाना है और अन्ततोगत्वा इन्हें सम्पूर्णतया समाप्त करके चित्त को शुद्ध करना है।

चित्त के संस्कार अदृश्य होने पर भी बड़े बलशाली होते हैं। यूँ समझो यदि इन संस्कारों का रूप शुभ नहीं है, यदि ये अशुभ है या अन्य शब्दों में कुसंस्कार है, तो इनकी प्रक्रिया व प्रतिक्रिया जीवन में बड़े दारुण दुष्परिणाम पैदा करती है। इस प्रक्रिया के तहत ये कुसंस्कार अपने पहले चरण में चित्त के गहरे से ऊपर आकर कुप्रवृत्तियों के रूप में समस्त मनोभूमि में छा जाते हैं। यह सब निश्चित समय अथवा जीवन का निश्चित मौसम आने पर ही होता है। मनोभूमि में उदय हुई इन कुप्रवृत्तियों की सघनता अपने अनुरूप कुपरिस्थितियों को रचती है। और तब एक सुनिश्चित घड़ी में होता है—कुप्रवृत्तियों एवं कुपरिस्थितियों का मेल।

और तब शुरू होता है—कुकर्मो का सिलसिला, जो एक बाढ़ की तरह पूरी जीवन चेतना को डूबा देता है। इसके बाद जीवन की कुगति का दण्ड विधान क्रियाशील होता है। इस प्रक्रिया की उलट स्थिति सुसंस्कारों की है। जो आन्तरिक रूप से सत्प्रवृत्तियों एवं बाहरी तौर पर सत्परिस्थितियों

के रूप में प्रकट होती है। इसके बाद प्रारम्भ होते हैं—सत्कर्म और जीवन चल पड़ता है—सद्गति के राह पर। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन के लिए चित्त के संस्कारों से मुक्त होना ही चाहिए। इस शुद्धिकरण के लिए भी एक प्रक्रिया है और वह प्रक्रिया पवित्र भाव, पवित्र विचार, पवित्र दृश्य अथवा पवित्र व्यक्तित्व के ध्यान की।

अच्छा हो कि इसके लिए हम अपने सद्गुरु का चयन करें। गुरुदेव की छवि को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर उन्हें अपनी भावनाओं का, विचारों का अर्घ्य चढ़ाएँ। गुरुचरणों पर अर्पित करने के लिए आन्तरिक रूप से भाव-विचार एवं बाहरी तौर पर सभी कर्म- यही गुरुअर्चना एवं ध्यान निष्ठा का सर्वोत्तम रूप है। जब हमारे विचार का प्रत्येक स्पन्दन, भाव की प्रत्येक लहर गुरुदेव को अर्पित होगी, तो चित्त की वृत्तियाँ न केवल क्षीण होगी; बल्कि वे रूपान्तरित भी होंगी और शनैः शनैः चित्त निरुद्ध अवस्था की ओर आगे बढ़ता है। इस निरुद्ध अवस्था की अग्रगमन के क्रम में चित्त को निर्विचार अवस्था प्राप्त होती है, जबकि चित्त में किसी भी तरह की कोई लहर नहीं उठती। ऐसे में होती है, तो केवल शून्यता एवं स्वच्छता।

विचारों के सभी स्पन्दनों से रहित यह अवस्था परम निर्मल आध्यात्मिक ज्ञान को देने वाली है। इस अवस्था को पाने के लिए क्या साधना हो? इस सवाल के उत्तर में एक बड़ी मार्मिक अनुभूति हो रही है। आज से सोलह-सत्तरह साल पहले जबकि गुरुदेव अपनी स्थूल देह में थे। उनके तप एवं ज्ञान की आभा उनकी वाणी एवं कार्यों से विकरित होती रहती थी। उनसे मिलने, उनके पास रहने वाले शिष्यों-स्वजनों में बड़ा ही मधुर एवं प्रगाढ़ आकर्षण था उनके प्रति। उन्हें लेकर जब तब चित्त चिन्ताकुल भी होता था। गुरुदेव के स्थूल रूप में न रहने पर क्या होगा, कैसे होगा?

शिष्य के मन में उफनते ये प्रश्न उन अन्तर्यामी सद्गुरु से छुपे न रहे। एक दिवस मध्याह्न में उन्होंने शिष्य की इस चिन्ता को भाँप लिया और लगभग हँसते हुए बोले- पहली बात तो यह जान ले बेटा! कि मैं देह नहीं

हूँ। यह सच है कि देह अभी है, अभी नहीं रहेगी। अभी तू देह की उपस्थिति के साथ जीता है, फिर तुम्हें देह की अनुपस्थिति के साथ जीना पड़ेगा। उक्त शिष्य ने बड़े सहमते मन से कहा- हे गुरुदेव आपकी यह उपस्थिति ही तो मेरे ध्यान का विषय है। गुरुदेव बोले, हाँ सो तो ठीक है। अभी मेरी उपस्थिति तुम्हारे ध्यान का विषय है। बाद में जब न रहूँ, तो मेरी अनुपस्थिति को अपने ध्यान का विषय बनाना। गुरुदेव का यह कथन सुनने वाले शिष्य की चेतना में व्याप गया। गुरुदेव का भाव नहीं, विचार नहीं, छवि नहीं, वरन् उनकी अनुपस्थिति ही ध्यान का विषय। शिष्य के चिन्तन की इस कड़ियों को जोड़ते हुए वे कह रहे थे- मेरी अनुपस्थिति का ध्यान तुम्हें अध्यात्म का प्रसाद देगा। और सचमुच ही- अनुपस्थिति के इस ध्यान से निर्विकार की स्वाभाविक दशा मिलती है और तब अध्यात्म प्रसाद में कोई सन्देह नहीं रहता है। यह प्रसाद साधक में निर्मल बुद्धि का अवदान भरता है।

निर्मल मन को प्राप्त होती है-ऋतम्भरा प्रज्ञा

अन्त:स्थल को निर्मल कर देने वाले अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग चित्त पर अपना प्रभाव डालते हैं। इन प्रयोगों से चित्त की अवस्थाओं में परिवर्तन आते हैं- एक रूपान्तरण की प्रक्रिया घटित होती है। इस प्रक्रिया की तीव्रता के अनुरूप ही परिवर्तित होता है जीवन। चित्त में संस्कार एवं कर्मबीजों की परतों के अनुसार ही जीवन का स्वरूप विकसित होता है। ये विविध संस्कार एवं कर्मबीज काल क्रम में अपनी परिपक्वता के अनुसार ही प्रकट होते हैं। इनके प्रकट होने की अवस्था के अनुरूप ही जीवन की दशा व दिशा बदल जाती है। शुभ संस्कार एवं पुण्य कर्म के प्रकट होने से जहाँ जीवन शुभ व प्रकाश से पूरित होता है, वहीं अशुभ संस्कार एवं पाप कर्म के प्रकट होने से जीवन अशुभ एवं अंधेरे से भर जाता है। योग की वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ- ध्यान के प्रयोग चित्त को उत्तरोत्तर निर्मल बनाते हैं। इससे संस्कारों एवं कर्म बीजों का नाश होने से चित्त आध्यात्मिक ज्योति से ज्योतित होता है व जीवन में आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि होती है।

अन्तस् में आया बदलाव जीवन के समूचे कलेवर एवं परिवेश को बदल देता है। संत कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है कि-

जाको विधि दारुन दु:ख देही, ताकी मति पहिले हर लेहीं।

अर्थात् जिसको विधाता दारुण दु:ख देना चाहते हैं, उसकी मति का हरण पहले ही कर लेते हैं। स्थिति उलटी भी है-

जाको विधि पूरन सुख देहीं, ताकी मति निर्मल कर देहीं

अर्थात् जिसको विधाता पूर्ण सुख देना चाहते हैं, उसकी मति को निर्मल बना देते हैं।

इस निर्मलता के यौगिक महत्त्व को अगले सूत्र में बतलाते हुए महर्षि

पतंजलि कहते हैं-

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा॥ १/४८॥

शब्दार्थ- **तत्र**= उस समय (योगी की); **प्रज्ञा**= बुद्धि; **ऋतम्भरा**= ऋतम्भरा होती है।

भावार्थ- निर्विचार समाधि में प्रज्ञा ऋतम्भरा से सम्पूरित होती है।

महर्षि पतंजलि अपने योग सूत्रों में योग साधना की जिन उपलब्धियों की चर्चा करते हैं, उनमें यह उपलब्धि विशेष है। प्रज्ञा या बौद्धिक चेतना हमारे जीवन रथ की संचालक है। इसकी अवस्था ही जीवन की दिशा का निर्धारण करती है। सामान्य क्रम में बुद्धि सन्देह, भ्रम की वजह से चंचल रहती है। इस चंचलता की वजह से ही इसकी निर्णय क्षमता एवं विश्लेषण क्षमता पर असर पड़ता है। बौद्धिक दिशाभ्रम के कारणों में पूर्वाग्रहों, स्वार्थपरता एवं हठधर्मिता का भारी हाथ रहता है। इनके कारण बुद्धि में वह समझदारी नहीं पनप पाती, जिसकी आवश्यकता है।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग- विशेष तौर पर ध्यान की प्रणालियाँ, बुद्धि के इस कल्मष को दूर करती है। इस कल्मष के दूर होने से इसमें सहज निर्मलता आती है। इसके विकार दूर होने से इसमें न केवल सत्य का आकलन करने की योग्यता विकसित होती है, बल्कि इसमें ऋत् दर्शन की दृष्टि भी पनपती है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव अपनी आध्यात्मिक चर्चाओं में सत्य के दो रूपों की चर्चा किया करते थे। एक वह जो सामान्य इन्द्रियों एवं साधारण बौद्धिक समझ से देखा व जाना जाता है। जिसके रूप काल एवं परिस्थिति के हिसाब से बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए टेबिल में पुस्तक रखी है। यह सत्य है, किन्तु यह सत्य एक सीमित स्थान एवं सीमित समय के लिए है। समय एवं स्थान के परिवर्तन के साथ ही यह सत्य- सत्य नहीं रह जाएगा।

सत्य के इस सामान्य रूप के अलावा एक अन्य रूप है, जो सर्वकालिकम एवं सार्वभौमिक है। यह अपरिवर्तनीय है। क्योंकि यह किसी एक स्थान से नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अस्तित्व से जुड़ा है। यह सत्य

अस्तित्व के नियमों का है। भौतिक ही नहीं, अभौतिक या पराभौतिक प्रकृति इस दायरे में आते हैं। यह न बदलता है और न मिटता है। इसे जानने वाला सृष्टि एवं स्रष्टा के नियमों से परिचित हो जाता है। इसकी प्राप्ति किसी तार्किक अवधारणा या फिर किसी विवेचन, विश्लेषण से नहीं होती। बल्कि इसके लिए सम्पूर्ण अस्तित्व से एक रस होना पड़ता है। और ऐसा तभी होता है, जब योग साधक के चित्त को निर्विकार की भावदशा प्राप्त हो।

ऋत् में सत्य की शाश्वतता के साथ परमात्मा की सरसता है। **रसौ वैः सः** की दिव्य अनुभूति इसमें जुड़ी है। यथार्थ में ऋत् है अन्तरतम अस्तित्व, जो हमारा अन्तरतम होने के साथ सभी का अन्तरतम है। जब योगी को निर्विचार समाधि की अवस्था प्राप्त होती है, तो उसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा से आलोकित-आपूरित हो जाती है। उसमें ब्रह्माण्ड की समस्वरता स्पन्दित होने लगती है। यहाँ न कोई द्वन्द्व है और न किसी अव्यवस्था की उलझन। जहाँ कहीं जो भी न कारात्मक है, जो भी विषैला है, वह सबका सब विलीन, विसर्जित हो जाता है। ध्यान रहे कि यहाँ किसी को निकाल फेंकने की जरूरत नहीं रहती, क्योंकि सम्पूर्णता में सबको जीवन के सभी तत्त्वों को उनका अपना स्थान मिल जाता है।

यहाँ पहुँचते ही जीवन चेतना शिकायतों-सन्देहों, उलझनों, भ्रमों से मुक्त हो जाती है। सब कुछ समझ में आने लगता है, एकदम साफ-साफ और सुस्पष्ट। प्रत्येक तत्त्व की स्थिति ही नहीं, उसका औचित्य भी स्पष्ट हो जाता है। और तब पता चलता है कि यथार्थ में परेशान होने का कोई कारण ही नहीं है। यही विशेषता है—इस भावदशा का।

ऋतम्भरा में सर्वत्र सम्पूर्णता ही है। और इस सम्पूर्ण में सभी कुछ इतनी समस्वरता एवं संगीत लिए है कि बस माधुर्य के अलावा कुछ बचता ही नहीं। यहाँ केवल जीवन ही नहीं, मृत्यु का भी अपूर्व सौन्दर्य है। हर वस्तु नए प्रकाश में आलोकित होता है। पीड़ा भी, दुःख भी एक नए गुणवत्ता के साथ स्वयं को प्रकट करते हैं। यहाँ असुन्दर भी सुन्दर हो जाता

है, क्योंकि तब पहली बार समझ में आता है कि विपरीतता, विषमता क्यों आवश्यक है। और तब ये सब और इनमें से कुछ भी असुविधाजनक नहीं रहता। सब का सब एक दूसरे के सम्पूरक हो जाता है। यह बड़ा ही स्पष्ट अनुभव होता है-ये सभी तत्त्व एक दूसरे की मदद के लिए हैं।

सामान्य बोलचाल में- जिसे हम सब कहते-सुनते हैं, भगवान् का प्रत्येक विधान मंगलमय है। उसकी सही समझ चेतना की इसी अवस्था में समझ आती है। प्रज्ञा के ऋतम्भरा होने पर ही भगवान् के मंगलमय विधान का बोध होता है। अभी वर्तमान में एक कोरा कथन है- जिसमें शब्द तो बोले जाते हैं, परन्तु उनमें कोई अर्थ नहीं होता। बस एक ध्वनि बनकर कानों में गूँज जाती है। इसमें अस्तित्व के प्राण नहीं बसते। परन्तु प्रज्ञा के ऋतम्भरा होने पर इस मंगलमयता की प्रतिपल प्रतिक्षण अनुभूति होती रहती है। और योगी बन जाता है—मीरा की तरह, सुकरात की भाँति। उसे प्राप्त होती है महात्मा ईसा की अवस्था, जिसमें विष का प्याला, सूली की चुभन भी मंगलमय नजर आती है; क्योंकि तब इसकी बहुमूल्यता अनुभूत होने लगती है।

बिन इन्द्रिय जब अनुभूत होता है सत्य

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग से अन्तस् में आध्यात्मिक अनुभव पल्लवित होते हैं। चित्त शुद्धि के स्तर के अनुरूप इन अनुभवों की प्रगाढ़ता, परिपक्वता एवं पूर्णता बढ़ती जाती है। सामान्य जानकारियों वाले ज्ञान से इनकी स्थिति एकदम अलग होती है। सामान्य जानकारियाँ या तो सुनने से मिलती हैं अथवा फिर बौद्धिक अनुमान से। ये कितनी भी सही हो, पर अपने अस्तित्व के लिए परायी ही होती हैं। इनके बारे में कई तरह की शंकाएँ एवं सवाल भी उठते रहते हैं। इनके बारे में एक बात और भी है, वह यह कि आज का सब कल गलत भी साबित होता रहता है। पर आध्यात्मिक अनुभवों के साथ ऐसी बात नहीं है। ये अन्तश्चेतना की सम्पूर्णता में घटित होते हैं। इनका आगमन किन्हीं ज्ञानेन्द्रियों के द्वारों से नहीं होता और न ही किन्हीं पुस्तकों में लिखे अक्षरों से इनका कोई सम्बन्ध है। ये तो अन्तर में अंकुरित होकर चेतना के कण-कण में व्याप्त हो जाते है।

सामान्य क्रम में बुद्धि अस्थिर, भ्रमित एवं सन्देहों से चंचल रहती है। इसमें होने वाले अनुभव भी इसी कारण से आधे-अधूरे और सच-झूठ का मिश्रण बने रहते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का झरोखा भी धोखे से भरा है, जो कुछ दिख रहा है, वह सही हो यह आवश्यक तो नहीं है। जो अभी है कल नहीं भी हो सकता है। इस तरह कई अर्थों में आध्यात्मिक अनुभव अनूठे और पूरे होते हैं।

इसी सत्य को महर्षि ने अपने अगले सूत्र में कहा है-

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥ १/४९॥

शब्दार्थ-श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्= श्रवण और अनुमान से होने वाली बुद्धि की अपेक्षा; **अन्यविषया**= इस बुद्धि का विषय भिन्न है; **विशेषार्थत्वात्**= क्योंकि यह विशेष अर्थवाली है।

भावार्थ- निर्विचार समाधि की अवस्था में विषय वस्तु की अनुभूति होती है, उसकी पूरी सम्पूर्णता में। क्योंकि इस अवस्था में ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है, इन्द्रियों को प्रयुक्त किए बिना ही।

महर्षि पतंजलि के इस सूत्र में एक अपूर्व दृष्टि है। इस दृष्टि में आध्यात्मिक संपूर्णता है। जिसमें आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी स्वत: समावेशित हो जाता है। जिनकी दार्शनिक रुचियाँ गम्भीर हैं, जो आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा में रुचि रखते हैं उन्हें यह सच भी मालूम होगा कि आध्यात्मिकता का एक अर्थ अस्तित्व की सम्पूर्णता भी है। बाकी जहाँ-कहीं जो भी है, वह सापेक्ष एवं अपूर्ण है। विज्ञान ने बीते दशकों में सामान्य सापेक्षिता सिद्धांत एवं क्वाण्टम् सिद्धांत की खोज की है। ये खोजें आध्यात्मिक अनुभवों को समझने के लिए बड़ी महत्वपूर्ण हैं। सामान्य सापेक्षिता सिद्धांत का प्रवर्तन करने वाले आइन्सटीन का कहना है-वस्तु, व्यक्ति अथवा पदार्थ का सच उसकी देश- काल की सीमाओं से बँधा है। जो एक स्थल और एक समय सच है, वही दूसरे स्थल और समय में गलत भी हो सकता है। इस सृष्टि अथवा ब्रह्माण्ड के सभी सच इस सिद्धांत के अनुसार आधे अधूरे और काल सापेक्ष है।

सच की सम्पूर्णता तो तभी सम्भव है, जब वह सम्पूर्ण अस्तित्व की अनन्तत्व के कण-कण में समाया हो। मनीषी वैज्ञानिक आइन्सटीन के इस सिद्धांत का दूसरा पहलू क्वाण्टम् सिद्धांत में हैं। इसका प्रवर्तन मैक्सप्लैंक एवं हाइजेनबर्ग आदि वैज्ञानिकों ने किया था। उनका कहना था कि पदार्थ का सच ज्यादा टिकाऊ नहीं है। उन्होंने बताया- पदार्थ एवं ऊर्जा निरन्तर एक-दूसरे में बदलते रहते हैं और जिस तरह से पदार्थ का सबसे छोटा कण परमाणु है, उसी तरह से ऊर्जा का सबसे छोटा पैकेट क्वाण्टा है। इस क्वाण्टा की स्थिति अनिश्चित है। इसमें वस्तु जैसा कुछ भी नहीं है। ऊपर इनमें परस्पर गहरा जुड़ाव है। यह जुड़ाव इतना अधिक है कि अभिन्न भी कहा जा सकता है।

विज्ञान के इन दोंनों सिद्धांतों ने ज्ञान- के खोजियों के सामने एक बात बड़ी साफ कर दी है कि अनुभव यदि पदार्थ के, वस्तु के, व्यक्ति के अथवा स्थिति के हैं और यदि इन्हें इन्द्रियों के झरोखों से पाया गया है, तो कभी सम्पूर्ण नहीं हो सकते। इतना ही नहीं, इन्हें सन्देह एवं भ्रम से परे भी नहीं कहा जा सकता। इस तरह के अनुभव में तो कई दीवारें है, अनेकों पर्दे हैं। एक दीवार इन्द्रियों की- एक पर्दा स्नायु जाल का। फिर एक दीवार मस्तिष्क की। फिर एक पर्दा विचार तंत्र का। हम ही सोच लें—कितनी अपूर्णता होगी इस अनुभव में।

परम पूज्य गुरूदेव कहते थे कि अनुभव वह,जिसमें कोई दीवार या पर्दा न हो। अब यह क्या बात है कि आँख का देखा कुछ और, और यदि किसी सूक्ष्मदर्शी या दूरदर्शी यंत्र से देखा तो और। कानों ने एक खबर सुनायी और बुद्धि ने कुछ अनुमान सुझाए, पर अन्त:करण अनुभव से रीता रहा। चेतना वैसी ही कोरी व सूनी बनी रही। लेकिन जिसकी प्रज्ञा ऋतम्भरा से संपूरित हो गयी उसके साथ ऐसी कोई समस्या नहीं। निर्विकार समाधि की भाव दशा में अस्तित्व व्यापी चेतना की अनन्तता में सत्य अपने सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है। इसी अनुभव को पाकर सन्त कबीर बोल उठे-**कहत कबीर मैं पूरा पाया** अर्थात् मैने पूरा पा लिया। पूर्णिमा की चाँदनी से उद्‌भासित हो गया अन्त:करण।

इस सूत्र में उलट बासी तो है, थोड़ा अटपटा सा भी है। पर है एक दम खरा। पर जो समझे उसके लिए। यहाँ तक कि वैज्ञानिकों के लिए भी यह काफी दिनों तक एक गणितीय पहेली बना रहा। हालाँकि इन दिनों उन्होंने फोटान की भाषा सीख ली है और कम्प्यूटर नेटवर्क के जरिए वे उसका इस्तेमाल करने लगे हैं। फिर भी एक पहेली तो उनके सामने बची हुई है ही कि एक साथ सब कुछ एक समय में कैसे जाना जा सकता है। फोटान की भाषा सीखने के बाद उनकी मानसिक चेतना तो सीमित ही है। यदि उनसे आत्मविकास की साधना हो सके, तो शायद जान पाएंगे कि आध्यात्मिक अनुभव में आत्मचेतना के विस्तार में सब कुछ एक साथ एक समय में जान लिया जाता है।

योगियों को ऐसे अनुभव होते रहे हैं। **स्वामी विवेकानंद** जी महाराज के जीवन का एक आध्यात्मिक प्रसंग है, उन दिनों वे अल्मोड़ा में रहकर साधना कर रहे थे। निपट एकाकी वन में एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। इन्द्रिय चेतना प्रत्याहार में विलीन हो गयी थी। निराकार सर्वव्यापी परम सत्ता की धारणा ध्यान की लय पा चुकी थी। यह ध्यान उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता हुआ कब समाधि के सोपान चढ़ने लगा यह काल को भी पता न चला। और उन्हें इसी मध्य एक अनुभव हुआ पिण्ड के ब्रह्माण्ड का। व्यक्ति चेतना में समष्टि चेतना का अनुभव और धीरे-धीरे यह अनुभव ब्रह्माण्ड बोध में बदल गया।

जब उच्चस्तरीय समाधि की भाव भूमि से दैहिक चेतना में लौटे तो उन्होंने अपने गुरूभाई **स्वामी तुरीयानंद** से इसकी चर्चा की। बोले-हरी भाई मैं जान लिया। मुझे हो गया अनुभव अस्तित्व व्यापी चैतन्यता का। इसी को तो योगेश्वर कृष्ण कहते है, कि कोई इसे आश्चर्य से सुन कहता है और कोई इसे आश्चर्य से सुनता है और कोई विरला इस आश्चर्य को सम्पूर्ण रूप से जानता है। योगी के उल्लास में से ये सभी आश्चर्य एक साथ अंकुरित-पल्लवित होते है।

जब मिलते हैं व्यक्ति और विराट्

अंतर्यात्रा विज्ञान के रहस्यमय प्रयोगों का प्रभाव चित्त पर स्पष्ट दिखाई देता है। इसका सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम परिशोधन होने से कर्मबीज, संस्कार, आसक्ति एवं अहंता हटते-मिटते हैं। जहाँ पहले प्रत्येक कर्म एवं भाव व विचार अपनी प्रगाढ़ स्थिति में चित्त पर अपनी अमिट छाप छोड़ते थे, वहीं अब यह स्थिति बदल जाती है। अब तो केवल चित्त पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है और वह भी क्षणिक। जब तक कर्म अथवा भव-विचार की प्रगाढ़ क्रियाशीलता रहती है, तब तक चित्त के दर्पण पर उसकी झाँकी दिखती है, परन्तु जैसे ही इनकी स्थिति बदली, वैसे ही यह झलक भी मिट जाती है। इस परिशोधन से न केवल चित्त की क्रियाविधि, बल्कि उसका स्वरूप भी बदलता है। इसमें पारदर्शिता के साथ व्यापकता भी आती है। इसके संवेदन योग साधक के अंतस् में अतीन्द्रिय संवेदन एवं ब्रह्माण्डीय अनुभूतियों के रूप में उभरते हैं।

अब ऋतम्भरा प्रज्ञा के एक अन्य विशिष्ट गुण की चर्चा करते हुए महर्षि पतंजलि अपने एक नये सूत्र को प्रकट करते हैं-

'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी॥ १/५०॥'

शब्दार्थ- तज्जः = उससे उत्पन्न होने वाला; **संस्कारः** = संस्कार; **अन्यसंस्कार प्रतिबन्धी** = दूसरे संस्कारों का बाध करने वाला होता है।

भावार्थ- जो प्रत्यक्ष बोध निर्विचार समाधि में उपलब्ध होता है, वह सभी सामान्य बोध संवेदनाओं के पार होता है-प्रगाढ़ता मे भी, विस्तीर्णता में भी। यही वजह है कि इससे उत्पन्न संस्कार में अन्य सभी संस्कार विलीन हो जाते हैं।

यह भावदशा सामान्य अनुभव से परे है। यह बूझो तो जाने की स्थिति है, परन्तु साथ ही वैज्ञानिक भी है। संतों की उलटबासियाँ यहीं से शुरू होती है। अध्यात्मवेत्ताओं के कथन यहीं रहस्यमय हो जाते हैं, क्योंकि चेतना की इसी अवस्था में व्यक्ति एवं विराट् यहीं मिलते हैं, बल्कि यूँ कहें कि घुलते हैं। संक्षेप में यह मिलन बिन्दु है, घुलन बिन्दु है-व्यक्ति का विराट् में। जिसके साथ ऐसा हुआ अथवा हो रहा है वही इसे समझेगा। शेष को तो अविश्वास करना ही है। अब जैसे बर्फ के ठोस आकार को देखकर पारखी उसके पानी बनने की बात कह सकता है। उसके व्यापक होने की सम्भावनाएँ उसे उस बर्फ के टुकड़े में नजर आयेगी और साथ उससे आगे की अवस्था जबकि यह जल वाष्प बन जायेगा, उसके अपने मानसिक नेत्रों में झलकने लगेगी। लेकिन कोई गैर जानकार बर्फ के वाष्प होने की कहानी पर आश्चर्ययुक्त अविश्वास ही करेगा।

संसार वस्तुओं एवं व्यक्तियों का भी है और ऊर्जाओं का भी और सम्भव है इनमें पारस्परिक परिवर्तन भी, परन्तु यह बात कोई वैज्ञानिक ही समझेगा। ठीक इसी भाँति दुनिया अहंता की भी है, जहाँ मैं-मेरे और तू-तेरे की दीवारें हैं और आत्म-व्यापकता, ब्रह्मनिष्ठता की भी, जहाँ ये काल्पनिक लकीरें ढहती नजर आती हैं, बल्कि ऐसा लगता है कि ये भेद कभी था हीं नहीं। पर ये बात कोई अध्यात्मतत्त्व का अनुभवी ही समझेगा और कोई नहीं।

कहते हैं कि एक बड़े धनपति को अपने धन का भारी अहं था। उसे गर्व था अपनी बड़ी फैक्ट्री का। ये धनाड्य महोदय राजस्थान के थे और परम पूज्य गुरुदेव से मिलने के लिए गायत्री तपोभूमि मथुरा पहुँचे थे। अपनी बातों के बीच-बीच में फैक्ट्री एवं हवेली की चर्चा जरूर कर देते, परन्तु गुरुदेव ने उनकी इन बातों पर कोई प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त की। थोड़ी देर तक वार्तालाप यूँ चलता रहा। तभी गुरुदेव हँसते हुए उठे और एक बड़ा सा नक्शा सामने लाकर बिछा दिया। यह नक्शा विश्व का था। इसे दिखाते हुए वह उन सेठ जी से बोले-सेठ जी! जरा इसमें ढूँढ़िये तो सही

कि अपना भारत देश कहाँ है। थोड़े से आश्चर्यचकित सेठ ने जैसे-तैसे एक जगह पर अंगुली रखकर भारत देश बताया।

अब गुरुदेव ने उनसे राजस्थान की बात पूछी, बड़ी मुश्किल से बेचारे राजस्थान बता पाये और अपना शहर जयपुर बताने में तो उन्हें पसीना आ गया। कहीं पर उन्हें जयपुर ढूँढे ही न मिला। जब गुरुदेव ने उनसे अपनी फैक्ट्री एवं हवेली बताने को कहा, तो वे चकरा गये और बोले-आचार्य जी! आप तो मजाक करते हैं, भला इसमें मेरी फैक्ट्री-हवेली कहाँ मिलेगी। उन्हें इस तरह परेशान होते देखकर गुरुदेव बोले-सेठ जी! कुछ ऐसे ही ब्रह्माण्ड के नक्शे में अपनी धरती नहीं ढूँढी जा सकती और जब बात भगवान् की हो, तो हमारा अपना अहं बड़ा होने पर भी कहीं नजर नहीं आता। इस प्रसंग को गुरुदेव ने अपनी चर्चाओं में एक बार बताते हुए कहा था-योग साधक का चित्त जैसे-जैसे शुद्ध होता है-वैसे ही उसके अहं का अस्तित्व विलीन होता है। कुछ वैसे ही जैसे कि बर्फ का टुकड़ा वाष्पीभूत हो जाता है।

और जब अहं ही नहीं, तब अहंता के संस्कार कैसे? वह तो विराट् में घटने वाली घटनाओं का साक्षी बन जाता है। उसे स्पष्ट अनुभव होता है कि सत्, रज एवं तम के त्रिगुणात्मक ऊर्जा प्रवाह वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति में एक आश्चर्यकारी उलटफेर कर रहे हैं। बस एक दिव्य क्रीड़ा चल रही है। एक दिव्यजननी माँ परम प्रकृति के इंगित से सारे परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसे में क्रियाएँ तो होती दिखती हैं, पर कर्त्ता नहीं। उसे स्पष्ट अनुभव होता है कि वस्तु, व्यक्ति एवं परिस्थिति इन क्रियाओं की घटने वाली घटनाओं का माध्यम है। यह मात्र कल्पना या विचार नहीं, एक अनुभव है, प्रगाढ़ एवं विस्तीर्ण। जो योग साधक में सम्पूर्ण बोध बनकर उतरता है। इस अवतरण के साथ ही उसके चित्त में क्रियाओं, भावों एवं विचारों के प्रतिबिम्ब तो पड़ते हैं, परन्तु उनका कोई निशान उस पर नहीं अंकित हो पाता।

बल्कि अंतश्चेतना की इस अनूठी भावदशा में जो भाव एवं विचार उपजते हैं, वे रहे-बचे संस्कारों का भी नाश करते हैं। इस अनुभव को पाने वाले के बोध में किसी भी वस्तु या व्यक्ति में विराट् घुलता नजर आता है। तभी तो अंग्रेजी भाषा के **कवि वड्र्सवर्थ** ने यह बात कही कि यदि मैं एक फूल को जान लूँ, तो परमात्मा को जान लूँगा। लोगों ने उस महाकवि से सवाल किया भला यह कैसे? तो जवाब में वह हँसा और बोला कि इस एक के बिना परमात्मा का अस्तित्व जो नहीं है। सुनने वाला कोई पादरी था, उसने कहा-यह कैसे बात करते हो? तो उस कवि ने अपनी रहस्यमयी वाणी में कहा-तुम यह भी जान लो कि परमात्मा का अस्तित्व तो मेरे बिना भी नहीं है। पादरी को लगा कि यह कवि पागल हो गया है, पर सच्चाई यह थी कि वह महाकवि उस भावदशा को पा चुका था, जहाँ व्यक्ति एवं विराट् घुलते हुए अनुभव होते हैं। इस अनुभव की व्यापकता में देह के प्रति ममता नहीं रह पाती और न बचता है मन का कोई पृथक् अस्तित्व। अहंता यहाँ अस्तित्व को खो देती है। और चित्त के दर्पण में झाँकी होती है ब्रह्म की। ऐसे में किसी नये संस्कारों का उपजना सम्भव नहीं। यह ऐसी रहस्य कथा है, जिसे अनुभवी कहते हैं और अनुभवी ही समझते हैं। जो अनुभव पाने की डगर पर हैं, वे इस सूत्र को पकड़कर अपना नया अनुभव पा सकते हैं।

सारे नियंत्रणों पर नियंत्रण है-निर्बीज समाधि

नित नये अनुभव कराती अंतर्यात्रा के विज्ञान के प्रयोग चेतना के रहस्यमय शिखरों की झलक दिखाते हैं। इन चेतना शिखरों में हर एक शिखर सम्मोहक है। प्रत्येक का सौन्दर्य अद्वितीय है। चेतना के हर शिखर पर बोध की नयी अनुभूति है, योग की नयी शक्ति की प्राप्ति है। अंतर्यात्रा विज्ञान के इन प्रयोगों में प्रत्येक स्तर पर सर्वथा नयापन है। यह नयापन प्रयोग की प्रक्रिया में भी है और परिणाम की प्राप्ति में भी। जो पहले किया जा चुका है, अगली बार उससे कुछ अलग हटकर करना पड़ता है और इसकी परिणति भी कुछ अलग ही होती है। ज्यों-ज्यों यह सिलसिला चलता है, चित्त के विकार मिटते हैं। प्रत्येक विकार के मिटते ही एक नयी अनुभूति की किरण फूटती है। इन विकारों के मिटने के बाद विचारों के मिटने का क्रम आता है। साथ ही साधक की योग अनुभूति सघन होती है और सबसे अंत में मिटते हैं-संस्कार। सभी तरह के संस्कारों के मिटने के साथ ही योग साधक निर्विचार से निर्बीज की ओर छलांग लगाता है।

अनासक्ति स्वाभाविक होती है। अंतस् में न तो विकारों की कीचड़ जमती है और न विचारों का शोर होता है। ऐसे में संस्कारों की छाया और छाप भी स्वभावतः ही हटती-मिटती है। अंतश्चेतना निर्बीज में छलांग लगाने के लिए तैयार होती है।

इस तथ्य का खुलासा करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं-

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥ १/५१॥

शब्दार्थ- तस्य = उसका; **अपि** = भी; **निरोधे** = निरोध हो जाने पर; **सर्वनिरोधात्** = सबका निरोध हो जाने के कारण **निर्बीजः** = निर्बीज; **समाधिः** = समाधि (हो जाती है)।

भावार्थ- जब सारे नियंत्रणों पर का नियंत्रण पार कर लिया जाता

है, तो निर्बीज समाधि फलित होती है और उसके साथ ही उपलब्धि होती है-जीवन-मरण से मुक्ति।

योगर्षि पतंजलि ने इस सूत्र में जिस अनुभूति का संकेत किया है, वह व्यक्तित्व की अद्‌भुत घटना है। यह है-सृष्टि और जीवन में होने वाले सभी चमत्कारों का सार। यह चेतना का अंतिम शिखर है, जहाँ कोई नियंत्रण और संयम न होने के बावजूद प्रकाश और ज्ञान अपनी सम्पूर्णता में फलित होते हैं। यह वही आलोक लोक है-जिसकी चर्चा करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता (१५.६) में कहा है-

'न तद्‌भासयते सूर्यो शशांको न पावकः।
यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते तद्‌धाम परमं मम॥'

जहाँ सूर्य, चन्द्र और अग्नि का प्रकाश होने के बावजूद प्रकाश है। जहाँ पहुँचकर फिर से वापस नहीं आना पड़ता है, वही मेरा परम धाम है। यही शिव भक्तों का महाकैलाश है और विष्णु भक्तों का वैकुण्ठ। निर्गुण उपासकों को यही ब्रह्म सायुज्य मिलता है। परम योगियों का सत्यलोक यही है।

जीवन में भली-बुरी परिस्थितियाँ हमारे अपने ही किन्हीं भले-बुरे संस्कारों का परिणाम है। इन परिस्थितियों के प्रति हमारे मन में उठने वाले भली-बुरी भाव विचार की प्रतिक्रियाएँ अपनी प्रगाढ़ता में नये संस्कारों को जन्म देती है। इस तरह संस्कारों से परिस्थितियाँ और परिस्थितियों से संस्कार यह सिलसिला अनवरत चलता रहता है। **आचार्य शंकर** की भाषा में **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि जननी जठरे शयनम्'** यानि कि फिर से जन्म और फिर मरण और फिर दुबारा माँ की कोख में आगमन-शयन। इसका कोई अंत-विराम नहीं। जन्म-मरण का यह सिलसिला अनवरत-अविराम चलता रहता है। यदि इसे कहीं विराम देना है, तो स्वयं ही चेतना पड़ता है और योग साधक को अनासक्ति, सहनशीलता और ध्यान की त्रिवेणी में गोते लगाने पड़ते हैं। इस त्रिवेणी में स्नान करने वाला चित्त ही जन्म-मरण के कालव्यूह से बाहर आ पाता है।

इस सम्बन्ध में युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव एक गुरुभक्त के जीवन की सच्ची घटना सुनाते थे। इन महाभाग का नाम '**रामलगन**' था। मध्य प्रदेश के छोटे से गाँव में छोटी सी दूकान और जमीन के छोटे से टुकड़े पर गुजर-बसर करने वाला यह रामलगन साधारण सा गरीब गृहस्थ था। किन्हीं शुभ संस्कारों के उदय होने से उसे 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका मिली और वह परम पूज्य गुरुदेव के सम्पर्क में आ गया। रामलगन की पढ़ाई-लिखाई बस साधारण अक्षर ज्ञान तक सीमित थी। हाँ, उसमें इतनी योग्यता जरूर थी कि वह अखण्ड ज्योति पढ़ सकता था और अपने गुरुदेव को चिट्ठी लिख सकता था। गुरुदेव बताते थे कि अखण्ड ज्योति संस्थान के दिनों में रामलगन का पत्र रोज आता था। वह रोज रात सोने के पहले गुरुदेव को पत्र लिखता और सुबह जागने पर उसे पास के लेटर बॉक्स में डाल देता। यही उसकी आत्म-बोध और तत्त्वबोध की साधना थी।

जैसा नाम-वैसा गुण। रामलगन की लगन तो केवल अपने श्रीराम में थी। गुरुदेव बताते थे कि उसने अपने पत्रों में कभी भी अपने और अपने परिवार या किसी भी सगे-सम्बन्धी के किसी कष्ट-कठिनाई की चर्चा नहीं की। मथुरा आने पर भी उसने कभी कोई परेशानी नहीं बतायी। बहुत पूछने पर केवल इतना कह देता कि गुरुदेव मैं तो केवल माताजी के हाथ का बना प्रसाद पाने और आपका चरण स्पर्श करने आता हूँ। जैसी उसकी अपूर्व भक्ति थी-वैसी ही उसकी कर्मनिष्ठा थी। छोटी सी सामर्थ्य के बावजूद गुरुकृपा के बलबूते बड़े आयोजन करा लेता था। अंशदान-समयदान उसके जीवन में नियमित अंग थे।

एक दिन गुरुदेव अपने इस अद्भुत भक्त पर प्रसन्न होते हुए बोले-तुम क्या चाहते हो रामलगन? तुम जो भी चाहोगे, मैं वह सब दूँगा-बोलो! रामलगन अपने परम समर्थ गुरु की कृपा पर थोड़ी देर तक मौन रहा। फिर बोला-गुरुदेव! मेरी वैसी कोई सांसारिक चाहत तो नहीं है, बस एक जिज्ञासा है, निर्बीज समाधि को जानने की जिज्ञासा। जैसे समर्थ गुरु वैसा ही दृढ़निष्ठ जिज्ञासु शिष्य। गुरुदेव ने उत्तर में कहा-रामलगन क्या तुम

अपने जीवन में भयानक कष्ट सहने के लिए तैयार हो? इस सवाल पर गहराई से सोच लो। यदि तुम्हारा जवाब हाँ में होगा, तो तुम्हारी जिज्ञासा पूरी हो जायेगी।

अपनी बात पूरी करते हुए गुरुदेव ने उसे बताया-निर्बीज समाधि के लिए चित्त के सभी संस्कारों का दहन-शोधन जरूरी है और यह प्रक्रिया कठिन एवं दीर्घ है। काम कई जन्मों का है। यदि इसे एक जन्म में पूरा करें, तो कठिन स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। चित्त से संस्कार तीव्रतापूर्वक निकालने पर जीवन में बड़ी तीव्रता से परिवर्तन आते हैं। शरीर भी इसे तभी सहन कर पाता है, जबकि निरन्तर तपरत रहे। अन्यथा बीच में इसके छूट जाने की स्थिति बन जाती है। गुरुभक्त रामलगन को बात समझ में आयी। उसके हाँ कहते ही गुरुदेव के संकल्प के प्रभाव से उसके जीवन की परिस्थितियों में तीव्र परिवर्तन आने लगे। गायत्री साधना, चन्द्रायण व्रत, अलोना भोजन, गुरुदेव का ध्यान और नियमित काम-काज उसका जीवन बन गया। धैर्य और मौन ही उसके साथी थे। गुरुभक्ति ही उसका सम्बल थी। इस प्रक्रिया में उसे कई दशक गुजरे और अंत में उसे गुरु भक्ति का प्रसाद निर्बीज समाधि के रूप में मिला। उसके जीवन की अंतिम मुस्कान में चेतना के सर्वोच्च शिखर का परम सौन्दर्य झलक रहा था।

॥ ॐ तत्सत् इति प्रथमः समाधिपादः समाप्तः ॥

सम्पर्क सूत्र

श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट

शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

फोन (०१३३४) २६०६०२, फैक्स २६०८६६

Internet- www.awgp.org Email- shantikunj@awgp.org